ISSN 2231-3680

ÂNVĪKṢIKĪ

आन्वीक्षिकी

Vol. X **December 2014**

Chief Editor
Shriprakash Pandey

Editors
Ananda Mishra
Sachchidanand Mishra

DEPARTMENT OF PHILOSOPHY AND RELIGION

Published under : Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu Univesity, Varanasi-5

Chief Editor : SHRIPRAKASH PANDEY

Editorial Board :
Prof. U.C. Duey
Prof. S. Vijaya Kumar
Prof. A.K. Rai
Prof. D.N. Tiwari
Prof. D.B. Choube
Prof. Kripa Shankar
Prof. Abhimanyu Singh
Prof. R.K. Jha
Dr. Mukul Raj Mehata-
(Research Sciencetist-C)

Editors : **Ananda Mishra**
Sachchidanand Mishra

Price :

Printed at : B.H.U. Press
Banaras Hindu University
Varanasi-221005.

EDITORIAL NOTE

In yet another volume of **Ānvîkṣikî '** that I am presenting before you, I have tried my best to dish-out some more well researched academic morsels prepared very meticulously by a host of learned scholars of different universities. Broadening the horizon of knowledge by exploration, exposition and interpretation and creation of new knowledge is displayed and disseminated by the mediacy of a career and courier of knowledge and I am happy that **Ānvîkṣikî '** is doing this job fairly well. The present volume embraces a number of interesting and informative research articles within is folds on a variety of topics. But without the kind and prompt cooperation of the contributors, it would not have been possible to bring out this volume well in time. I am really very thankful to all the scholars who gave the material for this volume.

Shriprakash Pandey

CONTENTS

1. सच्चिदानन्द मिश्र — 7—34
   lKkuh; çkFkfer k,oa u0;U;k; dh ,d vuBh –f"V

2. उमेश चन्द्र दुबे — 35—48
   Jh vjfoUn dh rdZ dh vo/kkj.kk

3. आनन्द मिश्र — 49—80
   jorhje.k ik.Ms; v@j v}Sr dh ijEijk

4. देवव्रत चौबे — 81—88
   xhrk e ;kx dk Lo:Ik

5. N.C. Panda — 89—102
   Concept of Elements in Buddhist Literature

6. Kartar Chand Sharma — 103—118
   Female Energy and Kashmiri Mysticism

7. Pramod Kumar Bagde — 119—132
   Marx's Concept of Exploitation

8. Roshan Ara — 133—146
   The Notion of Inter-subjectivity in Marcel's thought

संज्ञानीय प्राथमिताएँ : नव्यन्याय की एक अनूठी दृष्टि

सच्चिदानन्द मिश्र

मनोविज्ञान तथा संज्ञानात्मक विज्ञान के आधुनिक विद्वान इस बात पर बहुधा बल देते हुए दिखायी देते हैं कि हमारा मस्तिष्क जो भी वस्तुएँ हमें अनुभवार्थ उपलब्ध होती हैं, उन सभी का अनुभव नहीं करता। मार्ग पर चलते समय हमारे सामने अनेक वस्तुएँ आती हैं, परन्तु हम उन समस्त वस्तुओं को न तो देख ही पाते हैं और न तो उन समस्त श्रव्य ध्वनियों को सुन ही पाते हैं। उनमें से कुछ का ही हम अनुभव किया करते हैं। यह कुछ का ही अनुभव वस्तुतः हमारे द्वारा चयनपूर्वक हुआ करता है। यह अवश्य ध्येय है कि हमको यह अनुभव में नहीं आता है कि हम वस्तुतः जानबूझकर ऐसा कर रहे हैं। इस चयन के नियम को हम संज्ञानीय प्राथमिकताओं के रूप में प्रस्तुत और परिभाषित कर सकते हैं। यह एक नवीन विचार के रूप में आज प्रतीत होता है, परन्तु नव्यन्याय की परम्परा में कुछ इसी प्रकार का चिन्तन अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। परन्तु यह विषय बहुत कम चर्चित है।[1] इस आलेख के माध्यम से मैं इसी की आलोचना करने का प्रयास कर रहा हूँ।

संज्ञानीय प्राथमिकताओं की बात दो परिस्थितियों में की जा सकती है–एक तो तब जब एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न साधनों या प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से जानने का प्रश्न हो। दूसरी तब यदि दो विभिन्न वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को जानने का प्रश्न हो। इसमें द्वितीय प्रश्न की सम्भावना तो प्रायः समस्त दर्शनों में हो सकती है। परन्तु इस विषय में कोई चिन्तन अन्य दार्शनिकों ने किया हो मुझे जान नहीं पड़ता। हाँ, प्रथम प्रश्न की सम्भावना केवल उन्हीं दर्शनों में सम्भव है जो प्रमाणसम्प्लववाद को

स्वीकार करते हों क्योंकि यदि विभिन्न प्रमाणों के विषय नियमतः ही भिन्न होते हों, जैसा कि बौद्ध परम्परा मानती है, तो एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न साधनों या प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से जानने का प्रश्न उठना सम्भव नहीं है। ज्ञातव्य है कि बौद्ध परम्परा में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण तथा अनुमान का विषय सामान्यलक्षण हुआ करता है। इस कारण बौद्धपरम्परा में तथा उसी के समान प्रमाणव्यवस्थावादी किसी भी दर्शन में प्रथम प्रश्न भी द्वितीय प्रश्न में ही आत्मसात् हो जायेगा।

न्यायपरम्परा प्रमाणसम्प्लववाद में विश्वास करती है। प्रमाणसम्प्लववाद का तात्पर्य इससे है कि एक ही पदार्थ या वस्तु अनेक प्रमाणों से जानी जा सकती है। आवश्यकता मात्र इतनी है कि वस्तु में इस प्रकार की योग्यता होनी चाहिए। इस कारण न्यायमतानुसार एक ही वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से भी हो सकता है, अनुमान प्रमाण से भी सम्भव है, तथा शब्द प्रमाण के माध्यम से भी यह सम्भव है। इसकारण न्यायपरम्परा का अनुसरण करने की स्थिति में ये दोनों ही प्रश्न हमारे सामने आ खड़े होते हैं। इन दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में हमें संज्ञानीय प्राथमिकताओं का विचार करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा सम्भव है कि एक ही काल में किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की सामग्री भी हो, अनुमिति की सामग्री भी हो और शाब्दबोध की भी। उपमान की सामग्री होने की सम्भावना से इनकार तो नहीं किया जा सकता, परन्तु उपमान के प्रयोग का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होने के कारण अन्य प्रमाओं के सामग्रियों के समवधान के काल में उपमान की सामग्री का समवधान थोड़ा कम सम्भाव्य है। इसी प्रकार भिन्नविषयक प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा शाब्दबोध की सामग्रियाँ भी उपस्थित हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है किस प्रकार का ज्ञान किस अवसर पर होगा? नव्यनैयायिकों ने इन दोनों ही परिप्रेक्ष्यों में संज्ञानीय प्राथमिकताओं के सन्दर्भ में विचार किया है तथा कुछ नियम इस सम्बन्ध में निर्धारित किये हैं।

न्यायपरम्परा में किसी भी कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारणसामग्री की अपेक्षा होती है।[२] किसी एक कारण में इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं हो सकती है कि केवल वही कारण कार्य का उत्पादन करने में सक्षम हो जाये। इसी कारण साधारण कारण तथा असाधारण कारण की अवधारणाएँ न्यायवैशेषिक परम्परा में प्राप्त होती हैं। ईश्वरीय

ज्ञान से अतिरिक्त जो भी हैं वे समस्त ज्ञान अनित्य होते हैं, किन्हीं परिस्थितिविशेष में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ज्ञान भी एक प्रकार का कार्य ही है। इस कारण कार्यमात्र के ऊपर लागू होनेवाली शर्त ज्ञान के ऊपर भी लागू होगी। ज्ञान भी अन्य समस्त कार्यों के समान ही कारणसामग्री का समवधान होने पर ही उत्पन्न होगा। जिस प्रकार कार्यमात्र के प्रति कुछ कारण अनिवार्यतया सुनिश्चित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानसामान्य के प्रति भी अनेक कारण आवश्यक रूप से अपेक्षणीय होते हैं। जिनको हम ज्ञानसामान्यसामग्री कह सकते हैं जैसे आत्ममनःसंयोग (आत्मा का मन के साथ संयोग) किसी भी ज्ञान के लिए अवश्य अपेक्षणीय होता है। परन्तु यह आत्ममनःसंयोगरूपा ज्ञानसामान्यसामग्री किसी भी ज्ञान की प्रजाति का निर्धारण करने के लिए उत्तरदायी नहीं हुआ करती। ऐसा नहीं हो सकता कि इस आत्ममनःसंयोग के द्वारा कोई विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो जाये क्योंकि यह समस्त ज्ञानों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। किसी भी ज्ञान की प्रजाति का निर्धारण करने के लिए ज्ञानविशेषसामग्री उत्तरदायी होती है। यथा स्मृति के लिए आत्ममनःसंयोग से अतिरिक्त केवल संस्कार की आवश्यकता हुआ करती है। इसी कारण तो स्मृति की परिभाषा संस्कारमात्रजन्य के रूप में दी जाती है।[३] प्रत्यक्षमात्र के लिए मन का इन्द्रिय के साथ संयोग अपेक्षणीय होता है। इस कारण कहा जा सकता है कि मन का इन्द्रिय से संयोग प्रत्यक्षसामान्यसामग्री है, किसी भी प्रत्यक्ष के काल में मन का इन्द्रिय से संयोग रहेगा ही क्योंकि उसके न रहने पर प्रत्यक्ष का हो पाना असम्भव होगा। परन्तु प्रत्यक्षविशेष की निर्धारक सामग्री तत्तद् इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों का उनके विषयों से सन्निकर्ष ही होगें।[४]

जब एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न साधनों या प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से जानने का प्रश्न हो, तो क्या होगा? कौन सा ज्ञान उत्पन्न होगा और कौन सा उत्पन्न नहीं होगा? इस प्रश्न को हम प्रथमतया लेते हैं। इसको संक्षेप में इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है कि समानविषयक सामग्रियों के काल में क्या होगा?

नैयायिकों का इस विषय में बड़ा ही सुस्पष्ट निर्धारण है कि किस सामग्री का प्राबल्य होगा। यदि समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री, अनुमितिसामग्री और शाब्दबोधसामग्री हो तो प्रत्यक्षसामग्री का ही प्राबल्य होगा और अनुमिति या शाब्दबोध न होकर प्रत्यक्ष ही

होगा। इस विषय में नैयायिकों का निर्धारण अनुभवाधारित है। इस प्रक्रिया को हम इस प्रकार देख सकते हैं–

क) जहाँ पर अयं पुरुषः न वा, यह पुरुष है या नहीं ऐसा संशय हुआ और ऐसे संशय के उपरान्त पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् अयम्, यह पुरुषत्व से व्याप्य हस्तचरणादिसम्पन्न है ऐसा विशेष दर्शन हुआ। यह विशेषदर्शन अयं पुरुषः, यह पुरुष है, इस पुरुषत्वविषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रति कारण हुआ करता है क्योंकि नैयायिकों के अनुसार विशेषदर्शन सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। किन्तु यह विशेषदर्शन अनुमिति के प्रति कारण बनने वाला परामर्शात्मक भी है। पुरुषत्वव्याप्यकरादिमत्त्व का अवगाहन अंगुली से निर्दिष्ट किये जा रहे इदम् पदार्थ में किया जा रहा है। पुरुषत्व का साधक हेतु है करादिमत्त्व। इस प्रकार साध्यव्याप्यहेतुमत्त्व का अवगाहन इसके द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकार पुरुषत्वानुमिति के प्रति कारणीभूत परामर्श भी मौजूद है। इस रीति से हम देखते हैं कि एक ही क्षण में यहाँ पर विशेषदर्शनरूपा पुरुषत्वविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री भी मौजूद है। विशेषदर्शन मौजूद होने का निहितार्थ यह भी है कि पुरुष व पुरुषत्व के साथ चक्षुरिन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष भी विद्यमान है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में हर एक स्थल पर आवश्यक नहीं है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रहने मात्र से प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जायेगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बाद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर ही सविकल्पक प्रत्यक्ष हुआ करता है। न केवल इतना ही अपितु अनेक स्थलों पर प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष के स्थलों को ध्यान में रखते हुए यह भी मानना अत्यावश्यक होता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के उपरान्त स्मरण होकर फिर सविकल्पक प्रत्यक्ष की सम्भावना बनती है। इसी कारण तो स्मृति को संस्कारमात्र जन्य ज्ञान तथा तदतिरिक्त समस्त ज्ञानों को अनुभव कहा जाता है। इसी प्रकार पुरुषत्वविषयक अनुमिति की सामग्री भी यहाँ मौजूद है। इस रीति से समानविषयक अनुमिति की सामग्री और प्रत्यक्ष की सामग्री विद्यमान है। इसमें प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष होगा या अनुमिति होगी? इस विषय में न्यायदर्शन सिद्धान्तित करता है कि ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष ही होगा।[५]

यहाँ पर यह ध्येय है कि नैयायिक इस स्थल में फल के रूप में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष के रूप में क्यों स्वीकार करते हैं? इसका उत्तर नैयायिक देते हैं कि

उपर्युक्त परिस्थिति में अनुभवानन्तर जायमान अनुव्यवसाय ही इसका निर्धारक होता है। वस्तुतः तो किसी भी स्थल पर किसी संज्ञानीय परिघटना के घटित होने पर सबसे अधिक प्रामाणिकता जिसकी स्वीकारी जा सकती है वह तदुपरान्त जायमान अनुव्यवसाय की ही। इस कारण अधिकतर स्थलों में नैयायिक अनुव्यवसाय के आधार पर ही इसका व्यवस्थापन करने का प्रयास करते हैं। इस स्थल पर पुरुषं साक्षात्करोमि, पुरुष का साक्षात्कार कर रहा हूँ, पुरुष को देख रहा हूँ, ऐसा ही अनुव्यवसाय हुआ करता है। पुरुषत्वमनुमिनोमि, पुरुष का अनुमान कर रहा हूँ ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है। इस कारण इस अनुव्यवसाय के बल पर यही मानना उचित होगा कि इस प्रकार के स्थलों पर प्रत्यक्ष ही होता है अनुमिति नहीं होती। इस प्रकार नैयायिक एक नियम पर निष्कर्ष के रूप में पहुँचते हैं–समानविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है।[६] इस नियम का अभिप्राय यह है कि यदि प्रत्यक्ष और अनुमिति के द्वारा एक ही विषय बोद्धव्य हों तो वहाँ पर संज्ञानीय प्राथमिकता यह है कि प्रत्यक्ष ही हो अनुमिति न हो।

प्रत्यक्ष की सामग्री है इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और अनुमिति की सामग्री है परामर्श। यद्यपि इसके अतिरिक्त सामग्रियों की भी आवश्यकता दोनों में होती है। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर विवेचित किया है प्रत्यक्ष के प्रति आत्मा व मन का संयोगात्मक सन्निकर्ष, मन और इन्द्रिय का संयोग तथा इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अपेक्षणीय होता है। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को चरम कारण माना जाता है। अनेकत्र इन्द्रियों को प्रत्यक्ष के प्रति करण तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को व्यापार माना जाता है। इस विषय में तर्कभाषा के लेखक केशवमिश्र का विवेचन बड़ा ही सुस्पष्ट और व्यवस्थित है। उनका कहना है कि कहीं पर प्रत्यक्ष में इन्द्रिय करण बनती है, कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण बनता है और कभी ज्ञान करण बनता है। जब निर्विकल्पकात्मक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है तब इन्द्रिय करण की भूमिका में होती है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार होता है। जब सविकल्पकात्मक प्रत्यक्ष होता है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की भूमिका करण की होती है और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उसका व्यापार होता है। उक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष के बाद हान (परित्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षाबुद्धियाँ हुआ करती हैं। (वस्तुतः समस्त सविकल्पक ज्ञानों के उपरान्त हान, उपादान या उपेक्षाबुद्धि हुआ करती है) सविकल्पक प्रत्यक्षोत्तर जायमान

हान, उपादान या उपेक्षाबुद्धि भी प्रत्यक्ष ही है। इसके प्रति सविकल्पकज्ञान व्यापार होता है और निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है।[७] तर्कभाषाकार केशवमिश्र की इस स्थापना से अन्य नैयायिक सहमत नहीं हैं। उनके मत में सविकल्पक प्रत्यक्षोत्तर जायमान हान, उपादान या उपेक्षाबुद्धि वस्तुतः प्रत्यक्ष की कोटि में अन्तर्भूत नहीं होती। परन्तु इस विषय में किसी भी नैयायिक को आपत्ति नहीं होगी कि अनेकत्र इन्द्रियाँ तथा अनेक स्थलों में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष में करण की भूमिका निभाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक तथा सविकल्पक भेद समस्त नैयायिकों को स्वीकार्य है। उपर्युक्त संशयोत्तरकालीन पुरुषानुभव को प्रत्यक्ष में ही समस्त नैयायिक अन्तर्भूत करेंगे। इस कारण विषय समान होने पर संज्ञानीय प्राथमिकता की दृष्टि से प्रत्यक्ष अनुमिति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव या संज्ञानीय प्राथमिकता को उदाहरणान्तर से भी समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि पर्वत में चक्षुरिन्द्रिय का अग्नि के साथ सन्निकर्ष धूम के साथ अग्नि का सन्निकर्ष होने के एक-दो क्षणों के बाद होता है। वहाँ जिस क्षण में चक्षु का अग्नि के साथ लौकिक सन्निकर्ष हो रहा है और उसी क्षण में वह्व्याप्यधूमवान् पर्वतः, पर्वत अग्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवाला है, ऐसा परामर्शात्मक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। इस परिस्थिति का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि इस स्थल में अग्नि के प्रत्यक्ष की सामग्री भी उपस्थित है तथा अग्नि के अनुमान की सामग्री भी उपस्थित है। तो क्या होगा प्रत्यक्ष या अनुमान? जो भी हो, ज्ञातव्य विषय एक ही है। नैयायिक कहेंगे कि इस परिस्थिति में अग्नि का प्रत्यक्ष ही होगा, अग्नि की अनुमिति नहीं होगी। प्रत्यक्षसामग्री भी अग्नि के प्रत्यक्ष की ही है और अग्नि के ही अनुमिति की भी सामग्री है। तो अनुमितिसामग्री पर प्रत्यक्षसामग्री हावी हो जायेगी तथा प्रत्यक्ष ही होगा अनुमिति नहीं होगी।

ख) कल्पना कीजिए कि कहीं पर एक ही काल में उसी विषय को भासित करानेवाली शाब्दबोधसामग्री भी उपस्थित हो और प्रत्यक्षसामग्री भी उपस्थित हो। दोनों सामग्रियाँ एक ही विषय की अवभासक हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि क्या उत्पन्न होगा शाब्दबोध या प्रत्यक्ष? इस परिस्थिति के बारे में देखा जाये-शाब्दबोध की सामग्री के

विषय में देखा जाये तो अनेक कारणों की अपेक्षा शाब्दबोध के लिए हुआ करती है। पदज्ञान, शक्तिज्ञान तथा पदार्थोपस्थिति मुख्य रूप से शाब्दबोध के प्रति कारण होते हैं। शक्तिज्ञान न होने पर पद से पदार्थ की स्मरणात्मक उपस्थिति नहीं हो सकती। एतदतिरिक्त आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति व तात्पर्य ज्ञान की भी आवश्यकता हुआ करती है। परन्तु यदि गम्भीरता से देखा जाये तो पदार्थोपस्थिति हो जाने पर शाब्दबोधसामग्री पूरी हो जाती है क्योंकि पदार्थोपस्थिति को शाब्दबोध की प्रक्रिया में व्यापार माना गया है। व्यापार के बाद फल की उत्पत्ति हो जाती है। इस परिस्थिति का स्थल वही है जब किसी क्षण में वह्निविषयक शाब्दबोध के प्रति कारणीभूत पदार्थोपस्थिति आदि विद्यमान हैं और उसी क्षण में वह्नि के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी हो रहा है। इस परिस्थिति की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता, ऐसा सम्भावना निश्चित तौर पर बन सकती है जब समानविषयक प्रत्यक्ष व शाब्दबोध की सामग्रियाँ हों। तो ऐसी स्थिति में क्या होगा? नव्यनैयायिक कहते हैं कि इस परिस्थिति में प्रत्यक्ष ही होगा, शाब्दबोध नहीं होगा। शाब्दबोध का प्रत्यक्षसामग्री के द्वारा प्रतिबन्ध कर दिया जायेगा। इस प्रकार हमारे सामने नियम आता है कि-समानविषयक शाब्दबोध के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक है।[८]

वस्तुतः तो उपर्युक्त दोनों नियमों को हम मिला सकते हैं और नियम को इस प्रकार से प्रस्तावित कर सकते हैं कि-समानविषयक प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धक होती है। प्रत्यक्ष के साथ उपमिति का तो शायद समानविषयकत्व ही सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि उपमिति का फल है पद की शक्ति का ज्ञान और किसी पदार्थ में किसी शब्द की शक्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से कथमपि सम्भव नहीं होगा। एतदर्थ शक्तिग्राहक प्रत्यक्षातिरिक्त ही हो सकते हैं। इस प्रकार उपमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री के प्रतिबन्धकत्व की तो प्रसिद्धि ही नहीं हो सकती। इस कारण समानविषयक प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान के प्रति समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता का स्वीकार करने पर भी समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता वस्तुतः केवल समानविषयक अनुमिति और समानविषयक शाब्दबोध के प्रति ही होगी।

ग) आइए, अब एक अन्य सम्भावना पर विचार करें। यदि किसी स्थल पर

समानविषयक अनुमिति की और शाब्दबोध की सामग्री है तो ऐसी स्थिति में क्या होगा? इस परिस्थिति में नव्यनैयायिकों द्वारा बतलाया जाता है कि-समानविषयक अनुमिति के प्रति समानविषयक शाब्दबोध की सामग्री प्रतिबन्धक होती है अर्थात् ऐसी स्थिति में शाब्दबोध ही होगा, अनुमिति नहीं होगी।[९] शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध कर दिया जायेगा। इस प्रकार जहाँ पर एक ही विषय को विभिन्न ज्ञानसाधनों के जानने की प्रस्थिति बनती है, उसमें किस सामग्री को प्राथमिकता दिया जायेगा, इस पर विचार किया गया है।

व्युत्पत्तिवाद की शास्त्रार्थकला नामक व्याख्या के लेखक पण्डित वेणी माधव शास्त्री समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता है और विनिगमना न होने के कारण समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता की तरह समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की भी प्रतिबन्धकता स्वीकारनी चाहिए ऐसा सुझाव देते हैं।[१०] विनिगमना का आशय किसी एक पक्ष को सिद्ध करनेवाली युक्ति से है। परन्तु मुझे पण्डित वेणीमाधव शास्त्री का मत युक्तिविरुद्ध लगता है और यह जगदीश व गदाधर से असम्मत भी है। क्योंकि यदि समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये और समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये तो सबसे बड़ी मुश्किल यह उपस्थित होती है कि जहाँ पर एक ही विषय की अनुमिति की सामग्री भी है और उसी विषय के शाब्दबोध की सामग्री भी है। वहाँ पर अनुमितिसामग्री के द्वारा शाब्दबोध का और शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण न तो शाब्दबोध ही सम्भव होगा और न ही अनुमिति ही सम्भव होगी परन्तु ऐसा हमारा अनुभव बताता नहीं है। यदि जो शाब्दबोधसामग्री पदार्थोपस्थितिरूपा है, वही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताविषयक होने के कारण परामर्शात्मक होने के कारण अनुमिति की सामग्री भी हो रही है, तो उसी के द्वारा उसी का प्रतिबन्ध स्वीकार करना अत्यन्त युक्तिविरुद्ध दिखता है। इस कारण यह तो निश्चित है कि या तो शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये, या तो अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारी जाये। दोनों प्रतिबन्धकताओं का स्वीकार युक्तिविरुद्ध होने से असम्भवदुक्तिक है। जगदीश और

गदाधर भी उनमें से समानविषयक अनुमिति के प्रति शाब्दबोधसामग्री की ही प्रतिबन्धकता स्वीकारने के पक्ष में दिखते हैं। व्युत्पत्तिवाद में गदाधर भी इसी पक्ष में अपना संकेत छोड़ते हैं। वेणीमाधव शात्रीजी जो विनिगमनावैकल्य का प्रश्न उठाते हैं वह नितान्त असावधान है। यह प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव व्यवस्थित चिन्तन और युक्ति द्वारा व्यवस्थापित किया गया है, विनिगमना के बगैर नहीं।

अभी तक हमने प्रथम प्रश्न को आधार बनाकर विचार किया। अब द्वितीय प्रश्न पर लौटते हैं कि विभिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों के काल में क्या होगा? कौन सी संज्ञानीय दृष्टिकोण से कौन से ज्ञान की सामग्री प्राथमिक होगी? कौन सा ज्ञान उत्पन्न होगा? इस पर भी सीधा- सीधा उत्तर देना मुश्किल है। एक-एक उदाहरण को लेकर इस प्रश्न को हम देखते हैं। जिस प्रकार समानविषयक एकाधिक अनुभवसामग्रियों के काल में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के निर्धारण की रीति अपनाई गयी थी, विभिन्नविषयक एकाधिक अनुभवसामग्रियों के काल में अलग रीति से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का निर्धारण किया जाता है।

क) जहाँ एक ही काल में विभिन्नविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री और अनुमिति की सामग्री मौजूद हैं, प्रत्यक्ष की सामग्री किसी अन्य विषय का प्रत्यक्ष कराने के लिए उपस्थित है तथा अनुमिति की सामग्री किसी अन्य विषय का अनुमितिरूप ज्ञान कराने के लिए उपस्थित है, वहाँ पर प्रत्यक्ष होगा या अनुमिति होगी? इस प्रश्न का नव्यनैयायिकों द्वारा दिया गया उत्तर समानविषयक अनुभवसामग्रियों के स्थल में दिये गये उत्तर से एकदम विपरीत है। यहाँ पर वे सिद्धान्त देते हैं कि-भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धक हुआ करती है। जैसे-जिस क्षण में व्यक्ति को वह्निव्याप्यध ूमवान् पर्वतः, पर्वत वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवाला है, ऐसा परामर्श हुआ। उसी क्षण में पर्वत के साथ व्यक्ति का चक्षुःसंयोग भी हुआ। ऐसी स्थिति में अग्रिम क्षण में सम्भव पर्वत के प्रत्यक्ष की भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप सामग्री मौजूद है और पर्वत में वह्नि की अनुमिति की भी परामर्शात्मिका सामग्री विद्यमान है। इस स्थिति में क्या होगा? पर्वत का प्रत्यक्ष या पर्वत में अग्नि की अनुमिति? तो ऐसी स्थिति में नव्यनैयायिक कहते हैं कि अग्रिम क्षण में पर्वत वह्निमान् ऐसी वह्नि की अनुमिति ही होगी अयं पर्वतः ऐसा प्रत्यक्ष नहीं

होगा। चूँकि अनुमिति वह्निविषयक है और प्रत्यक्ष पर्वतविषयक, इसलिए दोनों का विभिन्न विषयकत्व है। अतः भिन्नविषयक अनुमितिसामग्री प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध कर देती है तथा ऐसी स्थिति में अनुमिति ही होती है।[११]

ख) इसी क्रम में द्वितीय प्रश्न उपस्थिति होता है कि जहाँ पर एक ही काल में भिन्नविषयक प्रत्यक्षसामग्री और भिन्नविषयक शाब्दबोध की सामग्री मौजूद होगी, वहाँ पर प्रत्यक्ष होगा या शाब्दबोध होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी न्यायसम्प्रदाय देता है कि-भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धक होती है। उदाहरणस्वरूप यदि पर्वतविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री है, पर्वत को प्रत्यक्ष से जानने की परिस्थिति है और उसी काल में घटविषयक शाब्दबोध की सामग्री भी है, घट को शाब्दबोध की प्रक्रिया में जानने की परिस्थिति बन रही है। तो वहाँ पर शाब्दबोधसामग्री प्रत्यक्षसामग्री पर हावी हो जायेगी। अतः शाब्दबोध ही होगा प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा।[१२]

ग) ऐसा प्रश्न भी उपस्थित होता है कि मान लो कहीं पर एक ही काल में भिन्नविषयक शाब्दबोध की सामग्री भी है और उसी काल में भिन्नविषयक अनुमिति की सामग्री भी है, वहाँ पर शाब्दबोध होगा या अनुमिति होगी? इसका उत्तर नव्यनैयायिकों द्वारा यह दिया जाता है कि-भिन्नविषयक शाब्दबोध के प्रति भिन्नविषयक अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धक होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपर्युक्त परिस्थिति में अनुमिति ही होगी, शाब्दबोध नहीं होगा। उदाहरण के रूप में समझा जा सकता है कि जिस क्षण में पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्, पर्वत अग्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूमवाला है ऐसा परामर्श है। यह परामर्श पर्वतो वह्निमान्, पर्वत अग्निवाला है, इस प्रकार की अनुमिति की सामग्री है। यदि उसी क्षण में घटवद् भूतलम्, भूतल घटवाला है, ऐसे शाब्दबोध को उत्पन्न करनेवाली पदार्थोपस्थिति आदि से घटित सामग्री है। हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि शाब्दबोध की सामग्री पदार्थोपस्थिति आदि से घटित होती है। तो नव्यनैयायिकों का पक्ष है कि ऐसी स्थिति में अनुमिति ही होती है, शाब्दबोध नहीं होता।

इस समस्त विवेचन में एक अन्य बात भी ध्येय है कि यदि इन समस्त परिस्थितियों में हमारी इच्छा की भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका हुआ करती है। जैसे यद्यपि सामान्यतया समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होती है,

परन्तु यदि समानविषयक अनुमिति करने की हमारी इच्छा हो तो समानविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध न होकर समानविषयक अनुमिति की सामग्री के द्वारा प्रत्यक्ष का ही प्रतिबन्ध हो जाता है। इसी कारण इच्छा जिस विषय को जिस प्रमाण के द्वारा जानने की है, यदि उस विषय को उस प्रमाण से जानने की सामग्री है, तो उस प्रमाण के द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न किया जायेगा। परन्तु यदि ऐसा नहीं है, तो जो सामान्य नियम प्रस्तावित किये गये हैं, वे प्रभावी होंगे।

अनुमिति के प्रति सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि के अभाव को पक्षता कहा जाता है। पक्षता अनुमिति के प्रति आवश्यक सामग्री में अन्तर्भूत है। पक्षता के न रहने पर अनुमिति सम्भव नहीं होती। इसमें अन्तर्भूत सिसाधयिषा सिद्धि की इच्छा ही है। संक्षेप में कहा जाये तो अनुमिति के प्रति सिद्धि प्रतिबन्धक होती है, इस कारण सिद्धि के न रहने पर अनुमिति नहीं होती। परन्तु सिद्धिमात्र प्रतिबन्धक नहीं होती। समानविषयक सिद्धि ही अनुमति के प्रति प्रतिबन्धक होती है, समानविषयक सिद्धि के रहने पर अनुमिति नहीं होती। इस कारण समानविषयकसिद्धि का अभाव अनुमिति के लिए आवश्यक होता है। परन्तु यदि सिसाधयिषा यानी सिद्धि की इच्छा है, तो सिद्धि के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं किया जा पाता। इसी लिए सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि के अभाव को अनुमिति के लिए आवश्यक तथा पक्षता माना गया है। इस कारण इसको भी संज्ञानीय प्राथमिकता के नियम का ही एक विस्तार समझना चाहिए। इसी कारण यज्ञपति उपाध्याय, जो कि गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि पर प्रभा नामक व्याख्या के रचयिता हैं, समानविषयक अनुमिति के प्रति समानविषयक सिद्धि तथा समानविषयक अनुमानातिरिक्त ज्ञान की सामग्री दोनों को ही साथ में लेकर सिसाधयिषाविरहवैशिष्ट्य विशेषण जोड़कर उनके अभाव को पक्षता मानने का पक्ष प्रस्तावित करते हैं। समानविषयक अनुमिति के प्रति जिस प्रकार समानविषयक सिद्धि प्रतिबन्धक है, उसी प्रकार समानविषयक सिद्धि की हर एक सामग्री, जो कि उस अनुमिति की सामग्री से अतिरिक्त है, प्रतिबन्धक है।[१३] इस कारण यज्ञपति उपाध्याय की रीति से प्रतिबध्यप्रति- बन्धकभाव को स्वीकार करने में लाघव प्रतीत होता है, परन्तु रघुनाथ शिरोमणि आदि नव्यनैयायिकों ने इस रीति से प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव का निर्धारण नहीं किया है। रघुनाथ शिरोमणि तथा उनके

व्याख्याकार गदाधर व जगदीश भट्टाचार्य यज्ञपति उपाध्याय के पक्ष से सहमत नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि इन आचार्यों के अनुसार समानविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री व समानविषयक शाब्दबोध की सामग्री अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं करती है।[१४] अपितु इन आचार्यों का अभिमत यह है कि सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि के अभाव को जिस प्रकार हम अलग से अनुमिति के प्रति कारण मानते हैं, उसी प्रकार से अनुमित्सा (अनुमितीच्छा) विरहविशिष्ट प्रत्यक्षसामग्री के अभाव को तथा अनुमित्साविरहविशिष्ट शाब्दबोधसामग्री के अभाव को अतिरिक्त कारण के रूप में मान्यता देनी चाहिए क्योंकि उनको पक्षता के अन्तर्गत कारण नहीं माना जा सकता।[१५] जिस प्रकार कामिनीजिज्ञासा कामिनीविषयक ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानमात्र के प्रति प्रतिबन्धक होती है, उसी प्रकार अनुमित्सा (अनुमितीच्छा) विरहविशिष्ट प्रत्यक्षसामग्री को तथा अनुमित्साविरहविशिष्ट शाब्दबोधसामग्री को अनुमिति के प्रति स्वतन्त्ररूप से प्रतिबन्धक मानना ही युक्तिसंगत है। इच्छा में हमारा स्वातन्त्र्य है, इच्छा भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के विषय में विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की इच्छा हो सकती है, कि प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान के विषय में हमें विभिन्न इच्छाएँ हो सकती हैं। हेतु, साध्य व पक्ष आदि के भेद अनुमित्सा (अनुमितीच्छा) भी अनेक प्रकार की सम्भावित है। उन समस्त इच्छाओं के द्वारा हमारी संज्ञानीय प्राथमिकताओं को प्रभावित किया जा सकता है। इस कारण उन समस्त बिन्दुओं को दृष्टिगत रखते हुए संज्ञानीय प्राथमिकताओं पर व्यवस्थित विचार नहीं किया जा सकता। परन्तु इच्छाओं को परे रखकर विचार किया जा सकता है। ज्ञान सामान्यतया ज्ञानसामग्री पर निर्भर करता है, इच्छा उस प्रकार से ज्ञानसामग्री में अन्तर्भूत नहीं हुआ करती है क्योंकि इच्छा के न रहने पर भी सामान्यतया ज्ञानों की उत्पत्ति हुआ करती है। इस कारण इस विवेचन से इच्छा को हम बाहर ही रखना चाहते हैं।

जिस प्रकार ऊपर हमने वेणीमाधव शास्त्री के मत का उल्लेख करते हुए विनिगमनाविरह का उल्लेख तथा उस पक्ष की युक्तिविरुद्धता का प्रतिपादन किया था। उसी प्रकार यहाँ पर भी किसी विनिगमनाविरह की आशंका करते हुए भिन्नविषयकशाब्दबोध सामग्री की भिन्नविषयक अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी चाहिए,

क्योंकि यह समस्त संज्ञानीय प्राथमिकता के नियम युक्तियों पर आधारित हैं। परन्तु इनमें युक्ति है क्या?

उपर्युक्त प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावों को स्वीकार करने में युक्ति

इस विषय में दर्शन के अन्यसम्प्रदायों की भी सहमति अनेक अंशों में है। यह श्लोक बहुत बार उद्धृत किया जाता है–

प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्।
शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिंगयोः।।

जैसे लोक में प्रत्यक्ष और अनुमान में बलाबलत्वव्यवहार है, वह उनके शीघ्रगामित्व और मन्थरगामित्व के आधार पर है। इसी प्रकार श्रुति और लिंग में भी बलाबलत्वव्यवहार शीघ्रगामित्व और मन्थरगामित्व के आधार पर होता है। इस रीति से यदि देखें तो न्यायशास्त्रीय इन प्रतिबध्य- प्रतिबन्धकभावों को दर्शनान्तरों की भी सहमति प्राप्त है। परन्तु इस प्रकार से किसी अन्य दार्शनिक परम्परा में नव्यन्याय के विवेचन जैसा विवेचन प्राप्त होता है, ऐसा मेरे अनुभव में नहीं आया।

नव्यनैयायिकों द्वारा उपर्युक्त समस्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तभंग के भय से स्वीकारे गये हैं। इन प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावनियमों तथा नव्यनैयायिकों की युक्तियों को समझने के लिए कुछ न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों को जान लेना आवश्यक है क्योंकि उनके विना ये सारे प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव असंगत प्रतीत होंगे।

प्रथम नियम है ज्ञानायौगपद्य का नियम। इस नियम का आधार है आत्मविशेषगुणों के क्रमभावित्व का नियम। एक ही क्षण में नैयायिक दो ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार सकते हैं क्योंकि आत्मविशेषगुणों के क्रमभावित्व का सिद्धान्त है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय का सर्वानुमत सिद्धान्त है कि आत्मा के विशेष गुण क्रमशः ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा के अनेक विशेषगुण एक साथ उत्पन्न नहीं होते, अपितु वे क्रमभावी होते हैं। इसी नियम के आधार यह निगमित होता है कि जब आत्मा के अनेक विशेषगुण एक साथ नहीं उत्पन्न हो सकते, तो ज्ञान भी आत्मा का विशेषगुण होने के कारण एक साथ नहीं उत्पन्न हो सकता। इसको ही कहा जाता है ज्ञानायौगपद्य का नियम। ज्ञातव्य है कि नैयायिक ज्ञानायौगपद्य को हेतु के रूप में प्रस्तुत कर मन की सत्ता और मन का अणुत्व स्वीकार

करते हैं। नवीन नैयायिकों में कुछेक ज्ञान और इच्छा के यौगपद्य को स्वीकारते हैं, किन्तु एक ही क्षण में एक से अधिक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है यह सर्वानुमत सिद्धान्त है। इस नियम को नैयायिक छोड़ते नहीं। इस नियम के मूल में क्या है? अगर यह प्रश्न उपस्थापित किया जाये तो नैयायिकों का उत्तर आता है कि व्यासक्त मन व्यक्ति को, जिस व्यक्ति का मन कहीं अन्यत्र लगा हुआ है उसको, किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं हुआ करता। हम देखते हैं कि अगर हम मनोयोग से अध्ययन कर रहे हैं और उसी समय कोई हमें बुला रहा है, तो उस बुलाहट को हम सुन नहीं पाते। इसी प्रकार अगर हमारा मन किसी अन्य विषय में लगा है तो कोई चोट लग जाने पर भी पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। अगर हम यह नहीं मानते कि आत्मा के विशेषगुण क्रमभावी होते हैं, तो इस सर्वलोकानुभवसिद्ध अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकेगी। आत्मविशेषगुणों के क्रमभावित्व के नियम को स्वीकार कर लेने पर इन दैनिक अनुभवों की व्याख्या आसान हो जाती है।

द्वितीय नियम है ज्ञानों के असांकर्य का। एकप्रजातीय ज्ञान तत्प्रजातीय ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होगा, अन्यप्रजातीय ज्ञान की सामग्री से नहीं। यथा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष की सामग्री से ही उत्पन्न होगा, अनुमिति की सामग्री से नहीं। अनुमितिरूप ज्ञान अनुमितिसामग्री से ही उत्पन्न होगा प्रत्यक्षसामग्री से नहीं। इसी प्रकार शाब्दबोधात्मक ज्ञान शाब्दबोधसामग्री से ही उत्पन्न होगा। इस नियम का संक्षेप में तात्पर्य यह है कि समानविषयक या विभिन्नविषयक विभिन्न प्रजातीय अनुभवों की सामग्रियाँ मिलकर किसी एक ज्ञान को नहीं उत्पन्न करती हैं।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि एक ही क्षण में घट, पट, मठ आदि अनेक विषयों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष हो जाये तो क्या होगा? क्या इनमें से किसी एक का ही प्रत्यक्ष होगा? इनमें से किसका प्रत्यक्ष होगा और किसका प्रत्यक्ष नहीं होगा? अगर यह कहा जाये कि सभी का प्रत्यक्ष नहीं होता, किसी एक का ही होता है तो यह हमारे दैनिक अनुभवों से विरुद्ध होगा। इस विषय में नव्यनैयायिकों द्वारा यह सिद्धान्त दिया जाता है कि ऐसी स्थिति में घट, मठ, पट आदि अनेक विषयों को विषय करने वाला एक ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान समूहालम्बनात्मक या एकत्र द्वयम् इस रीति से हुआ करता

है। अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति उस समय भी नहीं होती है। बल्कि अनेकार्थविषयक एक ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ करता है।

एक अन्य प्रश्न लिया जाये जो थोड़ी सी विभिन्नता लिए हुए है। यदि एक ही क्षण में चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ, घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के साथ, श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ सन्निकर्ष हो जाये तो ऐसी स्थिति में क्या होगा? इनमें से किसका प्रत्यक्ष होगा और किसका नहीं? जैसे एक ही इन्द्रिय से अनेक विषयों का सन्निकर्ष होने पर अनेक विषयों को विषय करने वाला समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष स्वीकारा जाता है। इस स्थिति में क्या वैसे ही घट, गन्ध, शब्द आदि को विषय करने वाला समूहालम्बनात्मक एक प्रत्यक्ष होगा? तो नव्यनैयायिकों का उत्तर है कि नहीं। ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रश्न उठेगा कि वह प्रत्यक्ष किस प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत होगा? क्या वह चाक्षुष है? घ्राणज है? या श्रोत्रज है? इनमें से किसी एक को स्वीकारने में और दूसरे का निषेध करने में कोई विनिगमना नहीं है, किसी एक पक्ष को सिद्ध करनेवाली युक्ति नहीं है। एक ही प्रत्यक्ष को चाक्षुष, घ्राणज और श्रोत्रज नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें जातिसांकर्य की आपत्ति आयेगी। सांकर्य जातिबाधक होता है, अतः चाक्षुषत्व, घ्राणजत्व आदि जातियाँ नहीं बन सकेंगी। इस कारण विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा विभिन्नविषयक एक प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न हो सकता।

तो ऐसी परिस्थिति में होगा क्या? इस प्रश्न का उत्तर नव्यनैयायिकों द्वारा दिया जाता है कि कहीं पर भी भिन्नेन्द्रियों से जन्य भिन्नविषयक प्रत्यक्षों की एक क्षण में आपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि किसी एक इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष की सामग्री ही किसी भी स्थल में सम्भव हो सकती है। यदि एक स्थल में अनेक इन्द्रियों से जन्य विभिन्नविषयक प्रत्यक्षों की सामग्री सम्भव होती तो यह प्रश्न बन सकता था। इस समाधान को नव्यनैयायिकों द्वारा इस प्रकार से व्यवस्थित रीति से प्रस्तावित किया जाता है। न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय का यह प्रसिद्ध नियम है कि प्रत्यक्ष के प्रति आत्ममनःसंयोग, मनइन्द्रियसंयोग और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष इस रीति से तीन सन्निकर्ष होने आवश्यक होते हैं।[१६] ये तीन सन्निकर्ष मिलकर ही प्रत्यक्ष को उत्पन्न करा पाने में सक्षम होते हैं, यदि इनमें से कोई भी नहीं है तो प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता। चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिए आत्मा

का मन के साथ संयोग, मन का चक्षुरिन्द्रिय के साथ संयोग और चक्षुरिन्द्रिय का चक्षुरिन्द्रिय के विषय बननेवाले अर्थ के साथ संयोगादि षड्विध सन्निकर्षों में से अन्यतम सन्निकर्ष आवश्यक होगा। इसी प्रकार अन्य प्रत्यक्षों के बारे में भी समझना चाहिए। उपर्युक्त स्थल में चाक्षुष, घ्राणज, श्रोत्रज आदि किसी भी प्रत्यक्ष के प्रति कारणीभूत आत्ममनःसंयोग विद्यमान है क्योंकि न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा विभु है, सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए आत्मा तथा मन का जो संयोग ज्ञान के प्रति कारण होता है, वह हमेशा ही रहेगा। तत्तदर्थों घट, गन्ध व शब्द के साथ तत्तदिन्द्रियों चक्षु, घ्राण व श्रोत्र का क्रमशः संयोग, संयुक्तसमवाय व समवाय सन्निकर्ष भी विद्यमान हैं। इसमें भी कोई समस्या नहीं है। ध्येय है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों का प्रत्यक्ष करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सन्निकर्ष होने चाहिए। इस चीज के विस्तृत विवेचन में पड़े विना इतना समझ लेना पर्याप्त है कि घट, गन्ध व शब्द के प्रत्यक्षार्थ जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अपेक्षणीय हैं, वे सभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष इस स्थल में हैं। इन दोनों अंशों में ही तीनों प्रत्यक्षों की सामग्री समानरूप से विद्यमान है। किन्तु मन और तत्तदिन्द्रिय का सन्निकर्ष भी तत्तदिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। मन को इसीलिए न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में अणुपरिमाण स्वीकारा गया है।[१७] अणुपरिमाण होने का फल यह है कि अणुपरिमाण मन किसी एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त हो सकता है, अनेक इन्द्रियों के साथ एक साथ संयुक्त नहीं हो सकता। अतः मन का या तो चक्षुरिन्द्रिय या तो घ्राण इन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के साथ ही संयोग हो सकता है। इस कारण उपर्युक्त स्थल में जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा, वस्तुतः केवल उसी इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष की सामग्री है। किसी अन्य इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष की सामग्री वस्तुतः है ही नहीं। इस कारण केवल उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष सम्भव होगा। इस कारण उक्त स्थल में एक क्षण में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से जन्य विभिन्नविषयक प्रत्यक्षों की आपत्ति उन प्रत्यक्षों के प्रति कारणों के ही न रहने के कारण सम्भव ही नहीं है।

उपर्युक्त रीति से ही यदि कहीं पर यदि दो साध्यों की व्याप्तियों तथा पक्षधर्मता को दो हेतुओं में विषय करनेवाला परामर्शात्मक एक समूहालम्बनात्मक ज्ञान हो जाये या दूसरे शब्दों में कहें समूहालम्बनात्मक परामर्श हो जाये तो उस स्थल में दो अनुमितियाँ

नहीं होती है। बल्कि दोनों साध्यों को विषय करने वाली समूहालम्बनात्मक एक ही अनुमिति होती है। शाब्दबोध स्थल में भी इसी प्रकार समूहालम्बनात्मक एक ही शाब्दबोध विभिन्नविषयक पदार्थोपस्थिति से हुआ करता है, ऐसा समझना चाहिए। इस कारण एक ही काल में विभिन्न शाब्दबोधों की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

एक अन्य समस्या अवश्य थोड़ी गम्भीर है। वह यह कि यदि कहीं पर प्रत्यक्षसामग्री है, अनुमितिसामग्री है और शाब्दबोधसामग्री भी है। इसमें क्रमविपर्यास से एक-एक के परित्याग से भी स्थिति बन सकती है। ऐसी परिस्थिति में क्या होगा? तो इस समस्या का सीधा-सीधा उत्तर देना कठिन है, जो सब जगहों पर लागू हो। विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा विभिन्नविषयक प्रत्यक्षों की आपत्ति जिस सरलता से नैयायिक वारित कर देते हैं, उसी सरलता से इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस कारण परिस्थितियों के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है।

जहाँ पर एक ही विषय का प्रत्यक्ष कराने वाली सामग्री है, उसी विषय की अनुमिति कराने वाली सामग्री है और उसी विषय का शाब्दबोध कराने वाली सामग्री है अथवा इनमें से किसी का परित्याग करके एकाधिक समानविषयक अनुभवों की सामग्री है। तो ऐसी स्थिति में क्या होगा? यह तो निश्चित है कि ऐसी परिस्थिति में चूँकि एक ही विषय का ज्ञान करानेवाली विभिन्न सामग्रियाँ हैं, इस कारण उस विषय का ज्ञान तो होगा ही। किन्तु सन्देह यह है कि ऐसी परिस्थिति में जायमान ज्ञान है कौन सा? प्रत्यक्ष है? अनुमिति है? या शाब्दबोध? उस ज्ञान की जाति का निर्धारण किस आधार पर किया जाये? इस पर नव्यनैयायिकों द्वारा यह निर्धारण किया जाता है कि ऐसी स्थिति में उन ज्ञानों की जातियों का निर्धारण करने में उन उन ज्ञानों के उपरान्त जायमान अनुव्यवसाय ही प्रमाण है, वही अनुव्यवसाय ही यह निर्धारित करता है कि हमें जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह प्रत्यक्ष था, अनुमितिरूप था या शाब्दबोधात्मक। समानविषयक अनुमितिसामग्री और शाब्दबोधसामग्री के साथ यदि समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री है, तो ज्ञानोपरान्त हमको यही अनुव्यवसाय होता है कि साक्षात्करोमि, मैं इस विषय को प्रत्यक्ष से जान रहा हूँ, इस कारण उस ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मान लेना उचित तथा युक्तिसंगत है। इस कारण समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति और शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक होती है।

जहाँ पर एक विषय की अनुमितिसामग्री है और तद्विषयक शाब्दबोध की सामग्री है वहाँ पर ज्ञानोपरान्त कैसा अनुव्यवसाय होता है, इसमें विवाद की गुंजाइश है। ये ठीक है कि ऐसी स्थिति में न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में शाब्दयामि, मैं शाब्दबोध से इस अर्थ को जान रहा हूँ, ऐसा ही अनुव्यवसाय स्वीकृत है। परन्तु यह विभाजन विवादविषय हो सकता है क्योंकि वैशेषिकों में ही एक लम्बी परम्परा रही है जो शाब्दबोध को अनुमिति से अतिरिक्त नहीं मानती। इस कारण शाब्दबोधसामग्री अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है और अनुमितिसामग्री शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक नहीं होती है, इसमें कोई अन्य युक्ति तो अवश्य होनी चाहिए। प्रत्यक्ष तो अनुमिति का उपजीव्य है और शाब्दबोध में भी उपकारक होता है। अतः प्रत्यक्षसामग्री की बलवत्ता अनुमितिसामग्री तथा शाब्दबोधसामग्री के प्रति तो स्वीकारी जा सकती है। किन्तु शाब्दबोधसामग्री की अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता क्यों स्वीकारी जाये ? इसी प्रकार समानविषयक सामग्रियों के स्थल में तथा विभिन्नविषयक सामग्रियों के स्थल में ऊपर भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव स्वीकार किये गये हैं, उन भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावों को स्वीकार करने में भी कोई आधार तो अवश्य होना चाहिए।

इस प्रश्न का समाधान व्युत्पत्तिवाद पर गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्या के लेखक बच्चा झा नाम से सुप्रसिद्ध धर्मदत्त झा जी बड़े ही सुसंगत रीति से करते हैं कि-एक ही अर्थ के ज्ञास्यमान होने पर विजातीय अनुभवसामग्रियों का सन्निपात होने की स्थिति में कोई भी अनुभव होने पर बुभुत्सित अर्थावगतिसाकल्य की सम्पत्ति और पुनः अवगति असम्पाद्य होती है, इस कारण जिस सामग्री की लघुता होती है वही सामग्री फलजनिका होती है। ऐसी स्थिति में अन्वयव्यतिरेकसहचारग्रह, तर्क आदि से सम्पाद्य व्याप्तिग्रह आदि की अपेक्षा करने वाली अनुमितिसामग्री से शाब्दबोधसामग्री के लघुभूता होने के कारण और शाब्दबोधसामग्री से प्रत्यक्षसामग्री के लघुभूता होने के कारण समानविषयक अनुमिति में और शाब्दबोध में प्रत्यक्षसामग्री का तथा समानविषयक अनुमिति में शाब्दबोधसामग्री का प्रतिबन्धकत्व होता है।[१८] इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय यह है कि एक ही अर्थ का ज्ञान कराने के लिए यदि विजातीय अनुभवसामग्रियाँ यदि उपस्थित हैं, तो एक ही विषय ज्ञातव्य होने के कारण उस ज्ञात विषय का ज्ञान पुनः सम्पादनीय नहीं होता। एक ही अर्थ

की अवगति और साकल्येन अवगति एक ही बार सम्पाद्य होती है। इस कारण वह ज्ञान जिस प्रक्रिया से भी हो कोई अन्तर तो नहीं पड़ेगा, ज्ञान तो एक ही होगा चाहे वह जिस किसी अनुभवसामग्री से हो। ऐसी स्थिति में यदि सामग्री का पुनः सम्पादन करने की जरूरत नहीं है, तो उचित यही है कि जो सामग्री लघुभूता है वही सामग्री फलजनिका हो। प्रत्यक्षसामग्री, अनुमितिसामग्री और शाब्दबोधसामग्री में सबसे लघुभूता सामग्री प्रत्यक्षसामग्री ही है क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए उस इन्द्रिय से मन का संयोग और अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष अतिरिक्त रूप में अपेक्षित होता है। आत्मा और मन का संयोग तो ज्ञान मात्र के प्रति कारण हुआ करता है, अतः वह तो ज्ञानसामान्यसामग्री के अन्तर्गत होने के कारण किसी भी ज्ञान के पूर्व विद्यमान ही होगा। इस प्रत्यक्षसामग्री की अपेक्षा अनुमिति की सामग्री और शाब्दबोध की सामग्री गुरुभूत हैं। अनुमिति की सामग्री के लिए व्याप्तिग्रह, पक्षधर्मताज्ञान आदि की अपेक्षा होती है। व्याप्तिग्रह का सम्पादन अन्वयव्यतिरेकसहचारग्रह, तर्क आदि के द्वारा हुआ करता है। इस प्रकार अनुमितिसामग्री इन तीनों में सबसे गुरुभूत है। शाब्दसामग्री के अन्तर्गत भी अनेक चीजें प्रविष्ट हैं किन्तु शाब्दसामग्री के सम्पादन के लिए जितनी वस्तुओं की अपेक्षा होती है, वे अनुमितिसामग्री की अपेक्षा थोड़ी है। इस कारण जहाँ पर एक ही विषय के प्रत्यक्ष और अनुमिति अनुभवों की सामग्रियाँ हैं वहाँ पर प्रत्यक्ष ही होता है। इसी कारण एकविषयक प्रत्यक्ष और शाब्दबोध की सामग्रियों के रहने पर प्रत्यक्ष ही होता है शाब्दबोध नहीं होता है और इसी कारण ही एकविषयक शाब्दबोध व अनुमितिसामग्रियों के रहने पर शाब्दबोध ही होता है अनुमिति नहीं। प्रत्यक्ष की सामग्री अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा भी लघुभूत है और शाब्दबोधसामग्री की अपेक्षा भी। शाब्दबोधसामग्री केवल अनुमितिसामग्री की अपेक्षा लघुभूत है। अतः समानविषयक अनुभव सामग्रियों में उक्त रीति से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव होता है। इसी कारण व्युत्पत्तिवाद की शास्त्रार्थकला व्याख्या के लेखक वेणीमाधव शास्त्री द्वारा विनिगमनावैकल्य के आधार पर समानविषयक शाब्दबोध के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता का कथन नितान्त असावधान तथा असंगत है।

जहाँ पर भिन्नविषयक प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा शाब्दबोध की सामग्रियाँ एक ही क्षण में हैं। वहाँ पर जो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव व्यवस्थापित किया गया है, उसके बारे

में भी विचार आवश्यक है और उसमें क्या युक्तियाँ हैं? यहाँ पर यह ध्येय है कि उक्त स्थल में प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दबोध इस प्रकार तीन ज्ञान (एकाधिक) एक ही क्षण में नहीं उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि न्यायसिद्धान्त ज्ञानायौगपद्य का है। किन्तु प्रश्न यह है कि जैसे एक इन्द्रिय से अनेक अर्थ को विषय करनेवाला समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष हो सकता है, न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में यह स्वीकृत भी है। उसी प्रकार प्रत्यक्षसामग्री से जायमान प्रत्यक्षात्मक, अनुमितिसामग्री से जायमान अनुमित्यात्मक और शाब्दबोधसामग्री से जायमान शाब्दबोधात्मक एक ही ज्ञान वहाँ पर होता है, ऐसा क्यों न स्वीकार लिया जाये? इस प्रकार यदि स्वीकार कर लिया जाये तो भिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों का अनुभवों के प्रति परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं स्वीकारना पड़ेगा। किन्तु नैयायिकों के लिए यह स्वीकारना असम्भव है क्योंकि ऐसी स्थिति में जातिसांकर्य प्रसक्त होगा। जातियों के बारे में न्यायसिद्धान्त है कि समानाधिकरण जातियों में व्याप्यव्यापकभाव होना आवश्यक है। प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, शाब्दबुद्धित्व व उपमितित्व ये अनुभवत्व की व्याप्य जातियाँ हैं। यदि एक ही अनुभव व्यक्ति में प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, उपमितित्व व शाब्दबुद्धित्व में से एकाधिक जातियाँ रहें तो परस्पर अत्यन्ताभाव के अधिकरण में विद्यमान धर्मों का एकत्र समावेश रूपी सांकर्य दोष प्रसक्त होगा, सांकर्य को नैयायिकों ने जातिबाधक माना है। इस कारण एक ही व्यक्ति में प्रत्यक्षत्वादि अनेक धर्मों का समावेश और इसी कारण विजातीय अनुभवसामग्रियों से जायमान एक अनुभवात्मक ज्ञान स्वीकारना न्यायमत में असम्भव है। ऐसी स्थिति में एकाधिक अनुभवसामग्रियों के रहने पर किसी एक अनुभव सामग्री से कोई एक कार्य (ज्ञान) ही होना चाहिए और यह प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को स्वीकारे विना सम्भव नहीं है।

अब ऐसी स्थिति में एकाधिक भिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों का समवधान होने पर किस अनुभव सामग्री को किस अनुभवसामग्री के प्रति प्रतिबन्धक मानें? यदि प्रत्यक्षसामग्री को भिन्नविषयक शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक माना जाये तब तो शाब्दप्रमिति का उच्छेद ही हो जायेगा। क्योंकि जब कभी शाब्दसामग्री सम्पन्न होगी, उस समय योग्यताज्ञान, आकांक्षाज्ञान आदि रूप आत्ममानसप्रत्यक्ष की सामग्री भी विद्यमान ही होगी। फलतः शाब्दबोध कभी भी नहीं हो सकेगा, भिन्नविषयकप्रत्यक्ष आत्मा का

मानसप्रत्यक्ष ही होगा। यह स्वीकृति हमारे अनुभव के बिलकुल ही विपरीत है, इस कारण शाब्दसामग्री की ही भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारनी चाहिए।[१९]

इसी प्रकार भिन्नविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारने पर अनुमितिमात्र का उच्छेद हो जायेगा, कहीं पर भी अनुमिति की सम्भावना ही नहीं बन सकेगी। क्योंकि जब कभी व्याप्तिज्ञान आदि से घटित अनुमितिसामग्री सम्पन्न होगी, उस समय हमेशा व्यप्तिज्ञान आदि से विशिष्ट आत्मा के मानसप्रत्यक्ष की भी सामग्री विद्यमान ही होगी[२०] और वह आत्ममानसप्रत्यक्ष की सामग्री अनुमिति का प्रतिबन्ध कर देगी। अतः अनुमिति कहीं पर भी नहीं उत्पन्न हो सकेगी। इस कारण भिन्नविषयक अनुमिति के प्रति प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारने के की अपेक्षा भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारनी ही उचित है।

भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दसामग्री और अनुमितिसामग्री की प्रतिबन्धकता स्वीकारने में इसके अतिरिक्त एक और युक्ति भी सुझायी जाती है । वही युक्ति शाब्दसामग्री की अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धकता स्वीकारने में भी है। भिन्न अर्थों को विषय करने वाली विजातीय अनुभव सामग्रियों का सन्निपात होने पर किसी एक सामग्री से कोई एक ज्ञान ही, किसी एक अर्थ की अवगति ही सम्भव है क्योंकि ज्ञानायौगपद्य और जातिसांकर्य को न्यायमत में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन ज्ञास्यमान अर्थ तो एकाधिक हैं। ऐसी स्थिति में यदर्थविषयक ज्ञान उत्पन्न होगा तदतिरिक्तार्थविषयक ज्ञान का सम्पादन बाद में करना पड़ेगा, जिस अर्थ को पहले जान लिया गया, उससे अतिरिक्त अर्थ का ज्ञान कराने की आवश्यकता हमें बाद में होगी, शेष अर्थ की अवगति बाद में सम्पाद्य होगी। यह शेष अर्थ की अवगति विना सामग्री के सम्भव नहीं है, सामग्री के अधीन ही होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बाद में एक सामग्री जुटानी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में बाद में गुरुभूतसामग्री का सम्पादन करने की अपेक्षा उचित यही है कि अभी जो गुरुभूत सामग्री उपस्थित है, उसके द्वारा एक अर्थ की अवगति सम्पादित कर ली जाये और बाद में लघुभूता सामग्री का सम्पादन करके अनवगत अर्थ की अवगति सम्पादित की जाये। इसी पक्ष का अनुभव भी पक्षपाती है। इस प्रकार चूँकि प्रत्यक्षसामग्री का पुनः सम्पादन लघुतर क्लेशसाध्य होता है और अनुमितिसामग्री का पुनः सम्पादन

तथा शाब्दबोधसामग्री का पुनः सम्पादन गुरुतर क्लेश से साध्य होता है क्योंकि अनुमितिसामग्री और शाब्दसामग्री की अपेक्षा प्रत्यक्षसामग्री लघुभूता है। इस कारण भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति अनुमितिसामग्री भी प्रतिबन्धक होती है और शाब्दसामग्री भी प्रतिबन्धक होती है। इसी प्रकार अनुमितिसामग्री व शाब्दसामग्री दोनों के गुरु होने पर भी चूँकि अनुमितिसामग्री शाब्दसामग्री की अपेक्षा गुरुतर है, अनुमितिसामग्री का पुन सम्पादन गुरुतर क्लेश से साध्य है। अतः भिन्नविषयक अनुमितिसामग्री और शाब्दसामग्री का समवधान होने पर अनुमितिसामग्री शाब्दबोध का प्रतिबन्धक कर देती है। ऐसी स्थिति में शाब्दबोध नहीं होता है, अनुमिति ही होती है।[२१]

परन्तु बच्चा झा द्वारा व्युत्पत्तिवाद की गूढार्थतत्त्वालोक व्याख्या में प्रस्तावित समाधान भी समग्रता में समीचीन नहीं प्रतीत होता। उनका समाधान इस अभ्युपगम पर आधारित है कि अनुमितिसामग्री की अपेक्षा शाब्दबोधसामग्री लघुभूता है। परन्तु यह अभ्युपगम अपने आपमें सन्दिग्ध प्रतीत होता है। सामान्यतया देखा जाये तो परामर्शात्मक अनुमितिचरमकारण के सम्पादनार्थ पक्षधर्मताज्ञान तथा व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा होती है। इसमें से व्याप्ति का अनुभवात्मक ज्ञान अनुमिति के पूर्वक्षण में अपेक्षणीय नहीं होता, किन्तु व्याप्ति का स्मरणात्मक ज्ञान ही अनुमिति के पूर्वक्षण में अपेक्षणीय होता है। पक्षधर्मताज्ञान अनुभवात्मक भी हो सकता है और स्मरणात्मक भी। उसके लिए कोई अनिवार्यता नहीं है। इस कारण अनुमिति की जो सामग्री अनुमिति के पूर्व सम्पादनीय है वह व्याप्तिस्मरण, पक्षधर्मताज्ञान के क्रम में परामर्शपर्यन्त सामग्री ही है। इससे अधिक सामग्री का सम्पादन अपेक्षणीय नहीं है। इसकी अपेक्षा शाब्दबोध के लिए जो सामग्री सम्पादनीय है उसमें पदज्ञान, शक्तिस्मरण, पदार्थोपस्थिति यानी शक्तिस्मरणमूलक पदार्थस्मरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान भी आते हैं। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि अनुमितिसामग्री की अपेक्षा शाब्दबोधसामग्री अत्यन्त गुरुभूता है। ऐसी परिस्थिति में समानविषयक अनुमितिसामग्री तथा शाब्दबोधसामग्री का सन्निधान होने पर शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध तथा विभिन्नविषयक अनुमितिसामग्री तथा शाब्दबोधसामग्री का सन्निधान होने की स्थिति में अनुमितिसामग्री के द्वारा शाब्दबोध का प्रतिबन्ध होने की बात बच्चा झा के मार्ग का अनुसरण करते हुए संगत

नहीं दिखायी देती। व्याप्ति का अनुभवात्मक ज्ञान करना भले ही गुरुभूत हो परन्तु अनुमिति की सामग्री में वह तो नहीं ही आता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शाब्दबोधसामग्री में भले ही अधिक वस्तुएँ अन्तर्भूत हो रही हों, परन्तु उनका सम्पादन सुकर है। इसका कारण यह है कि शब्द का ज्ञान होते ही अर्थ का स्मरण तथा अर्थ का ज्ञान होते ही शब्द का स्मरण जितनी शीघ्रता से हुआ करता है, उतनी शीघ्रता से हेतु का ज्ञान होते ही उस हेतु में व्याप्ति का स्मरण नहीं हुआ करता। इसके पीछे कारण यह है कि जितनी बार हमें ज्ञान हुआ करता है, उतना ही संस्कार दृढतर होता जाता है। शब्द तथा अर्थ इस प्रकार से एक दूसरे से इतने अधिक सन्दर्भित या सम्बद्ध होते हैं कि कभी कभार ही ऐसा होता है हमें शब्द का ज्ञान हो और अर्थ की उपस्थिति (स्मरणात्मक उपस्थिति) न हो। इसी प्रकार कभी कभार ही ऐसा सम्भव होता है कि हमें अर्थ का ज्ञान हो (चाहे जिस प्रमाण से भी वह अर्थ ज्ञात हो रहा हो) और हमको शब्द का स्मरण न हो। इसी कारण तो वाक्यपदीय के लेखक भर्तृहरि का कथन है कि कोई भी ऐसा प्रत्यय (ज्ञान) लोक में नहीं है जो शब्द के अनुगम के विना हो, समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध ही भासित होते हैं। न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में समस्त ज्ञानों को शब्दानुविद्ध तो नहीं माना जाता, परन्तु इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि हमारे अनुभव के विषय होनेवाले समस्त ज्ञान शब्द से अत्यन्त सन्निहित होते हैं। इसी कारण आचार्य बदरीनाथ शुक्ल कहते हैं कि "ज्ञान सदैव शब्दानुविद्ध ही होता है- यह भ्रान्ति अत्यन्त सन्निधान के कारण होती है। मनुष्य अपने ज्ञान को अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता। अपने प्रत्येक बोध का वह संक्रमण कराना चाहता है। ज्ञान का व्यापार तथा ज्ञान की संक्रान्ति का व्यापार- दोनों में इतना अधिक सान्निध्य है कि बोध का उदय होते ही उसकी अभिव्यक्ति तत्क्षण होने लगती है। घट को देखते ही देखनेवाला कह उठता है- अयं घटः। इस कारण ऐसा लगता है जैसे ज्ञान का उदय ही इन शब्दों से हो रहा है।"[२२] इस कारण इतना तो अवश्य स्वीकार्य होगा कि शब्द से अर्थ का स्मरण तथा अर्थ से शब्द का स्मरण व्याप्ति आदि के स्मरणों की अपेक्षा शीघ्रतर होते हैं। इस कारण शाब्दबोधसामग्री शीघ्रतर सम्पाद्य है तथा उससे भी शीघ्रतर सम्पाद्य है प्रत्यक्ष की सामग्री। इस कारण समानविषयक सामग्रियों के काल में प्रत्यक्षसामग्री के द्वारा अनुमिति तथा

शाब्दबोध का प्रतिबन्ध और शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध हुआ करता है। इसी प्रकार विभिन्नविषयक सामग्रियों के काल में चूँकि समस्त विषयों का ज्ञान सम्पादनीय है, तो जो सामग्री विलम्ब से सम्पाद्य होती है उसके द्वारा कार्य का सम्पादन करके शीघ्रतर संयोजनीय सामग्री कालान्तर में पुनःसंयोजन कर लेना उचित तथा युक्तिसंगत है। इस कारण विभिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों के काल में विलम्बतर संयोजनीय अनुमितिसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रथमतया सम्पादन युक्तिसंगत है। इस कारण अनुमितिसामग्री विभिन्नविषयक अनुभवसामग्रियों के काल में प्रत्यक्ष तथा शाब्दबोध दोनों का प्रतिबन्ध कर देती है तथा शाब्दबोधसामग्री विभिन्नविषयक होने पर प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध कर दिया करती है।

इस समानविषयकत्व तथा विभिन्नविषयकत्व को भी एकदम कठोर मानदण्डों में हमें परखना पड़ेगा। जैसे घटवान् पटः और पटवान् घटः इन दोनों ज्ञानों के विषय मोटे तौर पर समान ही हैं क्योंकि इन दोनों ही ज्ञानों में घट, पट तथा उनके मध्य संयोग सम्बन्ध विषय के रूप में आ रहे हैं। परन्तु कोई भी इन दोनों ज्ञानों को समानविषयक मानना युक्तिसंगत नहीं मानेगा। क्योंकि एक ज्ञान में पट में घट का संयोगात्मक सम्बन्ध है, पट विशेष्य है और घट विशेषण यानी प्रकार है। द्वितीय ज्ञान में घट में पट का संयोगात्मक सम्बन्ध है, घट विशेष्य है और पट विशेषण यानी प्रकार है। इस कारण इन दोनों ज्ञानों का विभिन्नविषयकत्व बन जाता है। इस प्रकार के विभिन्नविषयकत्व को विना सन्दर्भ में लाये, इन संज्ञानीय प्राथमिकताओं को सही रीति से नहीं समझा जा सकता।

इस समग्र विवेचन में इसी कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा नहीं की गयी है क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की जो विषयता होती है, उसको नव्यनैयायिकों ने तुरीया विषयता कहा है। वह विषयता न तो प्रकारता नामक विषयता है, न तो विशेष्यता नामक और न ही संसर्गता नामक। इन तीनों ही विषयताओं से भिन्न प्रकार की वह विषयता है। इस कारण निर्विकल्पक ज्ञान किसी भी आनुभविक ज्ञान का समानविषयक नहीं हो सकता। इस कारण वह किसी भी ज्ञान का प्रतिबध्य नहीं हो सकता।

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lanÒ ,oa ikn fVIi.kh&

1. अपने एक आलेख Śābdabodha, Cognitive Priority and the Odd Stories on Prakāratāvāda & Samsargatavādā Journal of Indian Philosophy, Vol.27, No. 4. PP. 325-376, Kluwer Academic Publishers, Dordrecht, The Netherlands से प्रकाशित है, अच्युतानन्द दाश ने इस विषय पर कुछ बिन्दुओं का सङ्केत अवश्य दिया था। परन्तु उक्त आलेख के द्वारा विवेच्य विषय मुख्यतया अन्य थे। इस विषय पर एक व्याख्यात्मक प्रस्तुतीकरण मेरे द्वारा लिखित 'व्युत्पत्तिवाद' की 'सुनन्दा' नामक हिन्दी व्याख्या (भारतीय विद्या प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001 से प्रकाशित) की भूमिका में देखा जा सकता है।

2. जयन्त भट्ट आदि नैयायिक इसी कारण सामग्री को करण मानने का प्रस्ताव भी रखते हैं। समग्र न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में तीन प्रकार के कारणों की स्वीकृति भी इसी ओर संकेत करती है।

3. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तर्कसंग्रह, प्रत्यक्ष खंड

4. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, यह प्रत्यक्ष की सुविदित परिभाषा है। सुख–दुःख आदि का प्रत्यक्ष किसी बाह्य इन्द्रिय से नहीं होता। अपितु मन के माध्यम से होता है। मन से सुख–दुःख आदि का सन्निकर्ष होकर ही सुख–दुःख आदि का प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है।

5. यत्रायं पुरुषो नवेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषस्य प्रत्यक्षं भवति न त्वनुमितिः।..... पृ0 316, भट्टाचार्य, विश्वनाथ पंचानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी–रामरुद्री सहित। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1982

6. इस विषय में विभिन्न स्थलों पर इसके संकेत प्राप्त होते हैं। परन्तु सुस्पष्ट रूपसे इसका उल्लेख व्युत्पत्तिवाद की शास्त्रार्थकला व्याख्या में वेणी माधव शास्त्री ने किया है। समानविषयकशाब्दबोधं प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धिकेत्येको नियमः। पृ.04, शुक्ल, वेणीमाधव, व्युत्पत्तिवाद व्याख्या शास्त्रार्थकला, (तृतीय संस्करण) संपादक– शुक्ल, राजनारायण, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1987

7. यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम्। ...तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं ...इन्द्रियार्थसन्निकर्षमवान्तरो

व्यापारः। ...यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं ...तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्, निर्विकल्पकज्ञानमवान्तरव्यापारः। ...यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोऽपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकज्ञानमवान्तरव्यापारः। पृ0 12, मिश्र, केशव, तर्कभाषा चिदानन्दी सहिता, भारतीय विद्या प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997

8. समानविषयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति प्रत्यक्षसामग्री प्रतिबन्धिकेति द्वितीयो नियमः। पृ. 4, व्युत्पत्तिवाद–शास्त्रार्थकला

9. समानविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धिकेति तृतीयो नियमः। पृ. 4, व्युत्पत्तिवाद–शास्त्रार्थकला

10. विनिगमनावैकल्येन समानविषयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति शाब्दसामग्री प्रतिबन्धिकेति चतुर्थो नियमः। पृ. 4 व्युत्पत्तिवाद शास्त्रार्थकला

11. परामर्शानन्तरं विना प्रत्यक्षेच्छां पक्षादेः प्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिकेति संक्षेपः। पृ.317–318, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

12. ...भिन्नविषयकप्रत्यक्षादिकं प्रति तादृशशाब्दसामग्रीप्रतिबन्धकताया अप्याधिक्यमिति वाच्यम्। पृ. व्युत्पत्तिवाद

13. तथा च सिसाधयिषाविरहसहकृतस्य सिद्ध्यनुमानातिरिक्ततत्सिद्धितत्कारणान्यान्यस्य सिद्धिप्रत्यक्षादिसिद्धिकारणान्यान्यस्य वा सामान्याभावो यत्र स पक्ष इत्यर्थः पर्यवस्यति। उपाध्याय, यज्ञपति, पृ.79, तत्त्वचिन्तामणिप्रभा, सम्पादक– मिश्र, सच्चिदानन्द, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2005

14. पक्षता प्रकरण पर यज्ञपति उपाध्याय के मत की आलोचना के क्रम में जगदीश भट्टाचार्य ने किसी आचार्य के मत का उल्लेख "अत्र प्रत्यक्षमानमेव निवेशयितुं युक्तं, न त्वनुमितिभिन्नसिद्धिजनकमानं समानविषये शाब्दादिसामग्रीसत्त्वेऽनुमितेरेवोत्पादात्, अत एव एकपदार्थस्यापरपदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वस्य योग्यतात्वे संसर्गस्यानुमितिरेव स्यात् न तु शाब्दधीरिति योग्यताग्रन्थे मणिकारैरप्युक्तमिति वदन्ति" (तर्कालंकार, जगदीश, पक्षताप्रकरणम्, गंगाटीका के साथ पृ.172–173, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1980) इस प्रकार से किया है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि समानविषय होने पर शाब्दबोधसामग्री के द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं किया जाता अपितु अनुमितिसामग्री के द्वारा शाब्दबोध का ही प्रतिबन्ध किया जाता है। यह पक्ष सम्भवतया पक्षधर मिश्र का है, परन्तु पक्षधर मिश्र कृत

तत्त्वचिन्तामण्यालोक के अब तक अप्रकाशित होने के कारण इस पर कुछ निश्चित रूप से कह पाना सम्भव नहीं दिखता।

परन्तु यहाँ पर जिस तत्त्वचिन्तामणि के योग्यताप्रकरण का उल्लेख किया गया है, उसको समानविषयक अनुमितिसामग्री तथा शाब्दबोधसामग्री के समवधान के रूप में न लेकर इस रूप में भी लिया जा सकता है कि यदि योग्यता को अपरपदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वरूप माना जाये तो शाब्दबोध की सामग्री के स्थल में हमेशा ही अनुमिति की सामग्री उपस्थित ही रहेगी। इस कारण शाब्दबोध को अनुमितिरूप ही मान लेने की आपत्ति आयेगी। शाब्दबोध को अनुमिति से अतिरिक्त प्रमा और शब्द को अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण मानने का कोई आधार नहीं रहेगा। इस कारण समानविषयक शाब्दबोधसामग्री समानविषयक अनुमिति का प्रतिबन्ध करती है, यह सिद्धान्त प्रायः सर्वानुमत दिखता है। गङ्गेश की योग्यताप्रकरण में पंक्ति है– "नापि समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गव्याप्य– धर्मवत्त्वं, वाक्यार्थस्यानुमेयत्वापत्तेः।" पृ. 250, तत्त्वचिन्तामणि, शब्दखंड, प्रथम परिच्छेद, संपादक कामाख्यानाथ तर्कवागीश, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1990

15. द्रष्टव्य–पक्षताप्रकरण पर इन आचार्यों की व्याख्याएँ

16. आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं विषयेण तदा प्रत्यक्षम् न्यायभाष्य प्रत्यक्षलक्षणसूत्र

17. अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते। कारिकावली

18. अथ बुभुत्सिते ह्येकस्मिन्नर्थे विजातीयानुभवसामग्र्याःतद सन्निपाते कस्मिंश्चिदप्यनुभवे जायमाने बुभुत्सितार्थवगतिसाकल्यसम्पत्तेः पुनरवगतेरसम्पाद्यत्वमिति तत्र यत्सामग्र्या लघुत्वं तस्यैव फलजनकत्वम् ...तथा चान्वयव्यतिरेकसहचारग्रहतर्कादिसम्पाद्यव्याप्तिग्रहाद्यपेक्षानुमितिसामग्रीतः शाब्दसामग्र्याः, शाब्दसामग्रीतश्च प्रत्यक्षसामग्र्या लघुभूताया अनतिरिक्तविषयिकायामनुमितौ शाब्दमतौ च प्रतिबन्धकत्वम्। पृ. 83, झा, धर्मदत्त, गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद, संपादक– कीर्त्यानन्द झा, (द्वितीय संस्करण) कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1976

19. जातिसांकर्यस्य ज्ञानायौगपद्यस्य चानभ्युपगततयोभयसामग्रीसत्त्वे हि केनचिदेकेनैव कार्येण भवितव्यं नहि तत्र प्रतिबन्धकत्वादृतेऽन्यस्य सम्भवति विनिगमकत्वमित्यावश्यकं प्रतिबन्धकत्वमेकतरसामग्र्यास्तत्र प्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽन्ततः सर्वत्र शाब्दसामग्रीकाले योग्यत्वाकाङ्क्षाज्ञानादिमानसप्रत्यक्षसामग्र्या नियमेन सत्तया शाब्दप्रमितिमात्रोच्छेदः स्यादिति शाब्दसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वं स्वीक्रियते। वहीं, पृ. 77

20. आत्मा का मानस प्रत्यक्ष विशेषगुणों का योग होने से ही होता है। योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति न त्वन्यथा। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरीसहित, पृ. 231

21. बुभित्सितयोरर्थयोर्विजातीयानुभवसामग्र्योः सन्निपाते कयाप्येकयैवार्थावगत्या भवितव्यं जातिसांकर्यज्ञानायौगपद्ययोरनभ्युपगमादिति बुभुत्सितार्थावगतिसाकल्यासम्पत्तेः पुनरवगतिः सम्पादनीया सा च सामग्र्यधीना तत्र गुरुसामग्रीसम्पादनापेक्षया लघुसामग्रीसम्पादनं युक्तमिति यत्सामग्र्याः गुरुत्वं तस्या एव प्रथमतः फलजनकत्वमित्यनुभवसिद्धं.....विभिन्नविषयके शाब्दबोधे चानुमितिसामग्र्याः तादृशे प्रत्यक्षे च शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं क्लृप्तम्। पृ. 83, गूढार्थतत्त्वालोक व्युत्पत्तिवाद

22. द्रष्टव्य– शुक्ल, बदरीनाथ, शाब्दबोधप्रक्रिया, पृ. 54, न्यायसत्रम्, सम्पादक– राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषत्, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1984

●

श्रीअरविन्द की तर्क की अवधारणा

उमेश चन्द्र दुबे

यह सच है कि धर्म, दर्शन, कला और समाज अपने मुख्य विचार और सांस्कृतिक विशेषता को आत्मा (Spirit) से ही ग्रहण करते हैं किन्तु इनमें से कोई भी आत्मा को पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं करता। धर्म, दर्शन, काव्य, कला और समाज सभी मिलकर किसी संस्कृति की आत्मा, मन और देह को गठित करते हैं। परन्तु इन तत्त्वों में धर्म और दर्शन का ही प्राबल्य है। क्योंकि भारतीय सभ्यता में श्री अरविन्द के अनुसार- ''धर्म द्वारा क्रियाशील बना हुआ दर्शन और दर्शन द्वारा आलोकित धर्म ही''- नेतृत्व करता आया है। कला और काव्यादि तो इसी धर्मानुप्राणित दर्शन और दर्शनालोकित धर्म का अनुसरण करते हैं। ''दर्शन और धर्म भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं, इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और साथ ही ये एक-दूसरे के अन्दर व्याप्त भी होते रहते हैं। भारतीय दर्शन का सम्पूर्ण ध्येय, इसके अस्तित्त्व का सम्पूर्ण हेतु ही है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना, उसे अनुभव करना तथा आध्यात्मिक जीवन का यथार्थ मार्ग उपलब्ध करना; इसका अनन्य लक्ष्य धर्म के उच्चतम सारमर्म से एकदम मिलता-जुलता है। भारतीय धर्म अपना सारा विशिष्ट मूल्य-महत्त्व आध्यात्मिक दर्शन से ही प्राप्त करता है, जो उसकी परमोच्च अभीप्सा को आलोकित करता है।''[1] परन्तु इस मूलभूत सत्ता अर्थात् आत्मतत्त्व और आध्यात्मिक जीवन का यथार्थ स्वरूप तर्कबुद्धि द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

विकास की वर्तमान स्थिति में तर्क मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति है। मनुष्य अन्य पार्थिव प्राणियों से विशिष्ट इसलिए है कि उसमें अपने जीवन के लिए नियम तथा आत्म विकास के लिए किसी निश्चित विधान के अन्वेषण की शक्ति है। वैकासिकी प्रकृति

जड़तत्त्व से प्रारम्भ होकर मनुष्य के स्तर तक पहुँचती है। परन्तु मनोमय मनुष्य के स्तर पर मनुष्य पहली बार वैकासिकी प्रकृति पर ऊर्ध्वमुखी एवं निम्नाभिमुखी सचेतन दृष्टि डालता है। वह जीवन के लिए एक युक्तिसंगत विधान की स्थापना करना चाहता है जिसका वह स्वामी अथवा आंशिक रूप में शासक होना चाहता है। मनुष्य के नीचे का समस्त पार्थिक अस्तित्व अचेतन यंत्र की तरह है और उसकी अपनी प्रकृति ने ही उसे असहाय दास बनाकर दबा रखा है परन्तु मनुष्य में एक अन्तर्वेग है जिसके आधार पर वह अपना मानवत्व प्राप्त कर लेता है और वैकासिकी प्रक्रिया में सत्ता की एक भूमिका से दूसरी भूमिका में आरोहण करते हुए अपना दिव्यत्व प्राप्त कर इसी देह-ढाँचे में अनन्त स्वातंत्र्य की स्थापना करना चाहता है। यह सृष्टि दिव्य प्रकृति का ही कार्य है और मनुष्य के भीतर कोई उत्तम वस्तु या दिव्य पदार्थ बन जाने का यह अन्तर्वेग भी प्रकृति का ही है। परन्तु मनुष्य के लिए प्रकृति 'आत्म चेतन' बन जाती है। अतः यह एक दूसरे प्रकार की 'प्रकृति' है। यह सचेतनता का तत्त्व जड़तत्त्व एवं वनस्पति में छिपा हुआ है। पशु में यह स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होता है। पशु उत्तल पर ही कुछ सचेतन है और इसे अपनी प्रकृति की क्रियाओं की अधीनता में ही रहना होता है। परन्तु मनुष्य अपनी चेतना की दृष्टि अपने ऊपर, भीतर तथा चारों ओर डालता है। यह अपने को, अन्य व्यक्तियों को तथा समस्त पार्थिव अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः अपने ऊपर तथा अन्य पदार्थों पर अपनी चेतना को लगाने का कार्य आत्म तत्व (Spirit) के पार्थिव विकासक्रम में वैसी ही क्रांतिकारी घटना है जैसे जड़तत्त्व में से प्राण की अभिव्यक्ति थी। विकास की वर्तमान अवस्था में मनोमयी चेतना वह सर्वोच्च शक्ति है जो जीवन एवं आत्मतत्त्व की युक्तियुक्त व्यवस्था एवं इनके विकास के लिए प्रयत्नशील है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ज्ञान का साधन केवल तर्क युक्त बुद्धि (Intellectual Reason) ही नहीं है। सभी प्रकार के कर्म, प्रतीति, रसानुभव, संवेदन एवं संकल्प ज्ञान की बहुमुखी शक्ति के सूचक हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना स्वभाव तथा विधान है। इनका अपनी प्रकृति के अनुकूल तर्क है। इन पर तर्कयुक्त बुद्धि का नियंत्रण नहीं है। परन्तु बुद्धि (Intellect) का एक वैशिष्ट्य है। वह अपने को कर्म से पृथक् कर सकती है तथा पीछे हट कर उसके तत्त्वों तथा प्रक्रियाओं का विश्लेषण तथा विवेचन कर सकती है।

ज्ञान की उपर्युक्त विविध शक्तियाँ यह कार्य नहीं कर सकती हैं। इनका अस्तित्व अपने विशिष्ट कर्म के लिए ही होता है और वे उसी में सीमित भी होती हैं। बुद्धि की तरह ये अपने अन्दर, बाहर तथा चारों ओर देखने में असमर्थ हैं। इन शक्तियों के अन्तर्गत जो प्रज्ञा का तत्त्व है वह उनके कर्म में विद्यमान रहता है तथा उन्हें अपना स्वरूप निर्माण करने में सहायता देता है। इसका सम्बन्ध उस विशिष्ट कर्म तक ही सीमित रहता है। परन्तु इनके प्रतिकूल तर्क (Reason) अपने को कर्म में बह जाने से रोक सकता है। यह कर्म के पीछे तटस्थ रूप से खड़ा हो सकता है एवं कर्म में प्रवृत्त शक्तियों का विवेचन कर सकता है। यह उन्हें कहीं दबा सकता है तो कहीं छूट दे सकता है और उनमें संशोधन तथा परिवर्तन कर उनका पुनर्गठन कर सकता है। एतदर्थ ''यह सचेतन कला है, यह गवेषणा (Invention) है। यह निरीक्षण है तथा तथ्यों के अन्तर्निहित सत्य को अधिकृत और व्यवस्थित कर सकता है; यह अनुमान है तथा संभाव्य क्षमता के सत्य को उन्मुक्त कर सकता है तथा उसकी पूर्व सूचना दे सकता है। यह विचार (Idea) तथा उसकी परिपूर्ति है, यह स्वयं आदर्श एवं उसकी चरितार्थता है। यह तात्कालिक प्रकट स्वरूप के आरपार देख सकता है तथा उसके पीछे छिपे हुए सत्यों को अनावृत्त कर सकता है। यह सेवक है, परन्तु समस्त उपयोगिताओं का स्वामी भी है तथा समस्त उपयोगिता के भावों को एक ओर रख कर सत्य की, स्वयं सत्य के लिए ही, निरपेक्ष रीति से खोजकर सकता है और इसे पाकर नवीन संभाव्य उपयोगिता के भावों की एक पूरी दुनिया ही अनावृत्त कर सकता है। इसलिए यह एक सर्वप्रधान सामर्थ्य है जिसकी सहायता से मनुष्य ने अपने-आपको अधिकृत कर लिया है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तियों का अध्ययन करने वाला एवं स्वामी बना है।''[२]

परन्तु तर्कबुद्धि (Reason) की इस सर्वप्रधानता के प्रति मानव में एक विद्रोह भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा है। वस्तुतः यह बुद्धि का अपने प्रति असन्तोष है। इसके साथ ही साथ मनुष्य में अपनी प्रकृति की अन्य शक्तियों को अधिक स्वतंत्रता एवं महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होने लगी है। मनुष्य में तर्क की प्रधानता सदैव ही अपूर्ण रही है। इसका शासन क्षोभपूर्ण, संघर्षमय तथा असफल रहा है। तथापि मनुष्य जाति के विवेक ने इसे विधि-निर्माता स्वीकार किया है। इसका प्रतिद्वन्द्वी श्रद्धायुक्त विश्वास है। इस दावे में केवल धर्म ही सफल हुआ है कि ऐसे

विश्वास के सामने तर्क को शान्त रहना चाहिए। परन्तु कुछ समय के लिए धर्म को भी अपनी इस मान्यता का त्याग करना पड़ा तथा तर्क के आधिपत्य को स्वीकार करना पड़ा। अब मानव-मन में अपने ऊपर शंका करने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। यह अनुभव करने लगा है कि जीवन इतना विशाल एवं रहस्यमय है कि बुद्धि न तो जीवन की गम्भीरता को समझ सकती है और न इस पर शासन ही कर सकती है। इस प्रकार तर्कबुद्धि की अपर्याप्तता तथा इससे महत्तर किसी अन्य शक्ति का अनुभव मानव मन को अस्पष्ट रूप से होने लगा है।

तर्क विश्लेषणात्मक है और यह अपने विभेदों, वर्गीकरणों तथा इन पर आश्रित नियमों के द्वारा जीवन को विकृत एवं मिथ्या रूप दे देता है। इस प्रकार यह स्वच्छन्द है। परन्तु सत्य एवं ज्ञान के प्रति बढ़ता हुआ अन्तर्वेग मानव मन को इस बात की गवाही देता है कि ज्ञान की अन्य विशालतर शक्ति भी है जो सत्ता के रहस्यों में अधिक पहुँच रखती है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि ''मानव-मन का बढ़ता हुआ अनुभववाद जिस वस्तु को धुँधले रूप में देखने लगा है वह यह है कि आत्मा ही वह सर्व-सत्ता सम्पन्न देवता है जो तर्क बुद्धि को अपने एक मंत्री के रूप में उपयोग में ला सकता है, परन्तु अपनी क्षमताओं को सीमित किये बिना तथा अपने अस्तित्व के व्यवहार को कृत्रिम बनाये बिना अपने-आपको अपनी बौद्धिकता के निरीक्षण में नहीं ला सकता।''[३] ज्ञान की खोज तर्क का सर्वोच्च कार्य है। ज्ञान की खोज जब वस्तुतः ज्ञान के लिए की जाती है तभी ज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। इसके पश्चात् उस ज्ञान का उपयोग व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। परन्तु यदि प्रारम्भ से ही विशिष्ट उद्देश्य हमारी दृष्टि में होंगे तब बौद्धिक प्राप्ति सीमित हो जायेगी एवं सत्य विकृत हो जायेगा। सामान्य मनुष्य विशेष लाभ के लिए तर्क का प्रयोग करता है। यहाँ तक कि चिन्तनशील मनुष्य भी सामान्यतः विशेष रूचि के विचारों के लिए ही तर्क का प्रयोग करता है और जो भी तत्व इसके औचित्य को स्वीकार नहीं करते तर्कबुद्धि उन्हें अस्वीकार कर देती है। इस प्रकार तर्क को इन सीमाओं में कार्य करना होता है। वह जीवन तथा सत्ता के समस्त सत्य को जो उसके स्वीकृत मतों से मेल नहीं खाता है, कुचल देता है। इस प्रकार साधारण मन अपने उद्देश्यों के लिए अपने ढ़ंग से चिन्तन एवं तर्क करता है न कि सच्चे बोधयुक्त मन की रीति से। वस्तुतः इन्हीं स्वार्थों,

वासनाओं तथा पक्षपातों की दासता से मानव मन की विवेकहीनता का निर्माण होता है। ऐसी तर्कबुद्धि जब जीवन के ऊपर अपने नियमों को आरोपित कर नियंत्रित करने का प्रयास करती है तो उसे असफलता ही हाथ लगती है क्योंकि जीवन अनन्त क्षमताओं एवं शक्तियों से युक्त है। यद्यपि तर्कबुद्धि का यह दावा है कि उसके विचार ही जीवन के पूर्ण सत्य है। यह अपने विधानों को जीवन पर लागू करने का प्रयत्न भी करती है परन्तु ये विधान जीवन को दबा नहीं सकते हैं अपितु जीवन ने ही ऐसे विचारों की जड़ें खोखली कर दी हैं। इस प्रकार तर्कबुद्धि के पास अपने आप में पर्याप्त प्रकाश नहीं है। एतदर्थ उसे निरीक्षण, अनुभव तथा भूलों में से होकर ही अधिक विशाल अनुभव की ओर बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार तर्क अपनी प्रकृतिगत सीमाओं के कारण जीवन की जटिलता एवं सर्वांगीणता पर क्रिया करने में असमर्थ है एवं जीवन का रहस्योद्‌घाटन नहीं कर सकता है। इस स्थल पर तर्क की भूमिका के सन्दर्भ में यह प्रतीत होता है कि जैसे दो जगत् हैं। एक बुद्धि के लिए उपयुक्त विचारों का जगत् तथा दूसरा जीवन का जगत् जो बुद्धि के अधिकार में नहीं आता है। इस प्रकार जीवन के साथ ठोंकरे खाती तर्कबुद्धि या तो प्रायोगिक हो जाती है अन्यथा अनावश्यक रूप से कल्पनाशील हो जाती है।

तर्क अपने को जीवन का सेवक बना सकता है और अपने को उतने तक ही सीमित भी रख सकता है। वह मनुष्य के स्वार्थों, पक्षपातों तथा वासनाओं के लिए साधन जुटाने तथा उनका युक्तिपूर्वक औचित्य सिद्ध करने में ही संतुष्ट बना रह सकता है। परन्तु यह सुनिश्चित रूप से जिस आशा एवं अभीप्सा को लेकर मनुष्य वैकासिकी यात्रा पर निकला है उसकी प्रवंचना है तथा मनुष्य का अपने उच्चतम दिव्य अधिकार से च्युत होना है। परन्तु तर्कबुद्धि के ऐसे सीमित व्यवहार से मनुष्य चिरकाल तक संतुष्ट नहीं रह सकता है क्योंकि मनुष्य की प्रकृति उसे सत्ता की उच्चतर भूमिकाओं की ओर धक्का देती है और अपने से ऊपर उठकर अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त करती है।

इस समस्या का रहस्य यह है कि हमारे समस्त जीवन और अस्तित्व के मूल में परमतत्त्व है जिसे बुद्धि (Intellect) कथमपि समझ नहीं सकती है। प्रत्येक पदार्थ के पीछे परमतत्त्व विद्यमान है जिसका अन्वेषण वह पदार्थ कर रहा है। प्रत्येक सीमित

वस्तु उस परमतत्त्व का उद्घाटन करने के लिए प्रयत्नशील है और यही उसका वास्तविक सत्य है। किन्तु इस प्रक्रिया में प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपनी विशिष्ट विभिन्नतायें भी साथ लिए रहता है। एतदर्थ परमतत्त्व न केवल विविध रूपों और प्रवृत्तियों में अपनी अभिव्यक्ति का नियंत्रण करता है अपितु दूसरी ओर इन विविध रूपों में अनन्त वैभिन्य का भी तत्त्व है जो हमारी सीमित बुद्धि को बड़ा ही विस्मयकारी प्रतीत होता है। क्योंकि तर्क की गति निश्चित एवं सान्त रूपों तक ही सम्भव है। श्री अरविन्द के अनुसार तर्क जीवन पर स्वामी के रूप में क्रिया नहीं कर सकता है यद्यपि यह विकास की मध्यवर्ती अवस्था में मनुष्य के लिए ज्ञान का सर्वोत्तम साधन तथा सहायक है। क्योंकि बौद्धिक मनुष्य मनुष्यत्व का आदर्श नहीं है और न ही तर्कवादी समाज मानव जीवन की सम्भावनाओं की उच्चतम अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह आत्मा (Spirit) है जो मनुष्य के अन्दर अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है एवं विकास की सभी अवस्थाओं पर गुप्तरूप से शासन करता है और मनुष्य को तर्कबुद्धि की सीमाओं से परे पूर्णता की ओर ले जाता है। ''मनुष्य की स्वतंत्र होने तथा अपनी आन्तरिक एवं पारिपार्श्विक स्थिति का स्वामी बनने की प्रेरणा की वास्तविक परिपूर्ति तबतक नहीं हो सकती, जब तक कि उसकी आत्मचेतना वृद्धि पाकर विवेक युक्त मनोमयता से ऊपर नहीं उठ जाती, अपने उच्च सम्राट को नहीं जान लेती, उसके साथ अपनी तदात्मता अथवा उसके परम संकल्प एवं ज्ञान के साथ सतत सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेती।''[४]

तर्क बुद्धि मनुष्य को बौद्धिकता के प्रकाश में देखना और समझना सिखाती है, इस रूप में वह पथप्रदर्शक, शिक्षक अथवा विधि निर्माता का कार्य कर सकती है। परन्तु कुछ समय बाद तर्कबुद्धि अपने द्वारा निर्मित इन विधानों पर ही अपनी ही संशय की शक्ति को प्रकट करती है। क्योंकि उसे यह भान होने लगता है कि उसके विधि निर्माणक स्वरूप के कारण जीवन के स्रोत अवरूद्ध और निष्प्राण प्रतीत होने लगे हैं। इस प्रकार बुद्धि दो प्रकार से कार्य करती है (१) एक ओर नियमों की स्थापना करना तथा (२) पुनः समय से उन पर शंका करना, जिससे नवीन पद्धति निर्मित की जा सके।

बुद्धि सत्ता एवं कर्म के प्रत्येक स्तर पर विविध विचारों एवं उसके विरोधी सिद्धान्तों का द्वन्द्व उपस्थित कर देती है। क्योंकि यह प्रत्येक विचार को सत्य के रूप में स्वीकार करती है जिसके प्रति हमारी सत्ता को कोई भाग प्रतिक्रिया करता है। कभी

यह सहज प्रेरणाओं, कभी प्राणिक आवेगों, कभी बौद्धिक तृप्तियों तो कभी व्यक्तिवाद और समष्टिवाद तथा कभी आत्मत्याग तथा आत्मपरिपूर्ति की ओर आकृष्ट होती है। परन्तु इन सभी विचारों में समन्वय इस पृथक्कारी बुद्धि के द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता है। यह समन्वय उच्चतर चेतना के द्वारा ही सम्भव है जिसे वैकासिकी प्रक्रिया में प्राप्त करना है। परन्तु इन ससीमताओं के पश्चात् भी बुद्धि हमारी प्रकृति का विस्तार करती है और हमें उच्चतर चेतना के प्रति जाग्रत करती है। इस तरह बुद्धि की भूमिका उर्ध्वमुखी है।

श्री अरविन्द का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि तर्कबृद्धि की ''अपने प्रति यह अस्थिरता, उसकी विभाज्यता तथा विरोधी दृष्टिकोणों को साथ-साथ बनाये रखने की उसकी शक्ति उसके महत्त्व का समस्त गुप्त भेद है। यह ठीक है कि एक ही व्यक्ति में जागृति और संक्रमण के क्षणों को छोड़कर, अन्य समय अत्यन्त विरोधात्मक विचारों का समर्थन यह नहीं करती, किन्तु मानव-समुदाय में तथा काल प्रवाह में उसका समस्त कार्य ही यही है। कारण, इसी प्रकार मनुष्य सत्य की विविधता के अनुभव के द्वारा 'सत्य' की असीमता की ओर बढ़ता है। अतएव, उसकी तर्कबुद्धि उसे निर्माण करने में, तथा जो कुछ उसने बनाया है उसे बदलने और मिटाने में, एक नयी रचना तैयार करने में, संक्षेप में, उसे अपने और संसार के ज्ञान और इन दोनों ज्ञानों के कार्यों में अपने-आपको विकसित, उन्नत एवं विस्तृत करने में सहायता पहुँचाती है।''[५] मनुष्य ने अपने को अपूर्ण स्वचेतना वाले निम्न पाशविक सत्ता से बुद्धियुक्त सत्ता में परिवर्तित किया है और बुद्धियुक्त सत्ता से उसे उच्चतर चेतना में आरोहण करना है। मनुष्य की बुद्धि समग्र सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है परन्तु अज्ञान से ज्ञान की ओर शनैः शनैः उन्मुख हुई है। वस्तुतः मनुष्य को आत्म-आविर्भाव (Self-discovery) के लिए धीरे-धीरे प्रयत्न करना पड़ता है और इस तरह वह सहज प्रेरणाओं तथा आवेगों वाले स्थूल जीवन से आत्म प्रभुत्व को प्रकट करता है।

यह तर्क बुद्धि कुछ में अधिक विकसित एवं कुछ में कम विकसित होती है। यही कारण है कि वैयक्तिक एवं सामूहिक स्वनिर्माण के विभिन्न प्रयोग स्वरूप निर्मित-अधिनायकवाद, राजतंत्र, सैनिकतंत्र, धनिकतंत्र, जनतंत्र आदि को एक सामान्य मनुष्य रूढ़िरूप में स्वीकार कर लेता है। परन्तु एक अधिक विकसित मानव इसे नष्ट करना

चाहता है अथवा इसे और गहन, सूक्ष्म और व्यापक रूप देना चाहता है जिससे मनुष्य की सामर्थ्य एवं पूर्णता को संसिद्ध किया जा सके।

इस तरह हम देखते है कि यह तर्क बुद्धि एक ओर तो जीवन का शासन करने की इच्छा से कार्य करती है तो दूसरी ओर निःस्वार्थ भाव से ज्ञान के लिए खोज करती है। जब तक तर्क बुद्धि ज्ञान को ज्ञान के लिए प्रयुक्त करती है तब तक वह अपना स्वाभाविक कार्य करती है एवं अपने अधिकार का सर्वोच्च प्रयोग करती। किंतु जैसे ही वह उन विचारों को जीवन पर लागू करना चाहती है तो वह स्वयं मे न्यूनता का अनुभव करने लगती है। निःसंदिग्ध रूप से तर्कबुद्धि एक प्रकाश है किन्तु एक अपूर्ण प्रकाश। इसका कर्त्तव्य बड़ा होने पर भी प्रतिबन्धित है। अपनी इस प्रकृतिगत सान्तता के कारण तर्कबुद्धि अन्तर्लयन एवं विकास के गुप्तशासक परमतत्त्व को कथमपि नहीं जान सकती है। परम-चेतना के स्तर पर आत्मा (Spirit) ही निर्णायक होता है और जीवन पर नियमन करने का प्रयत्न करने वाली तर्कबुद्धि उसकी अनुचरी ही रह जाती है।

सत् अनन्त है। तर्क ससीम होने के कारण समग्र सत्य को कभी भी ग्रहण नहीं कर सकता। वह सत्य के उस अंश को ग्रहण करता है जिसकी हमें उस क्षण आवश्यकता होती है। मनुष्य को अनुभवों की एक लम्बी श्रृंखला से होकर स्वविस्तार करते हुए सत् तक पहुँचना है। तर्क बुद्धि का कार्य है मनुष्य की इन अनुभूतियों के औचित्य को सिद्ध करना तथा उसमें स्वविस्तार के लिए विश्वास पैदा करना। किन्तु यह सच है कि तर्क-बुद्धि मनुष्य के लिए न तो एक पूर्ण जीवन और न ही एक पूर्ण समाज की स्थापना कर सकती है। तर्कबुद्धि की चरमसीमा बौद्धिकता है और श्री अरविन्द का स्पष्ट मत है कि एक विशुद्ध बौद्धिक समाज कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकता और यदि आता भी है तो वह जीवित नहीं रह सकता और मानव को अनुर्वर बना देने वाला होगा।

परम चेतना की ओर उन्मुख हुई तर्कबुद्धि अज्ञान के आवरण को अनावृत करती चलती है। इस प्रकार यह सतत वृद्धि तथा पवित्रीकरण द्वारा उस गुह्य तत्त्व के बुद्धिसंगत अर्थ तक तथा अपने उच्चतर प्रकाश की प्रतिच्छाया की शक्ति तक सुनिश्चित रूप से पहुँच जायेगी। उसका कार्य वहीं समाप्त हो जायेगा जब वह मनुष्य को यह कह सकने में समर्थ हो जायेगी कि एक दिव्य तत्त्व है जो मनुष्य एवं संसार में गुप्त रूप से कार्य करता है और सब कुछ उसी का आत्मगोपन तथा आत्म प्रकाशन है।[६] इस तरह

विकास का लक्ष्य अस्तित्व के पीछे विद्यमान दिव्यसत्ता की प्राप्ति तथा उसी के प्रतिरूप में मानव जीवन का निर्माण है।

इस तरह उक्त वर्णनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तर्कबुद्धि का कार्य न केवल नियमों की स्थापना और पुनः उन स्थापित नियमों पर शंका उत्पन्न करना है अपितु इन कार्यों के सम्पादन के साथ बुद्धि की एक उर्ध्वमुखी अन्तदृष्टि भी है जिससे वह सनातन सत्ता से भविष्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करती है।

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य केवल मानसिक भौतिक सत्ता ही नहीं है। यह एक विकासशील सत्ता है जो मन, प्राण तथा शरीर के रूप में अपने आपको प्राप्त करने तथा कोई दिव्य पदार्थ बन जाने के लिए प्रयत्नशील है। यह विकसनशील आत्मा (Spirit) इस वैकासिकी यात्रा में जिस तत्त्व को ढूँढ़ रही है वह मानसिक भौतिक जीवन नहीं अपितु एक ऐसा आध्यात्मिक जीवन है जिसके द्वारा पूर्णता प्राप्त आन्तरिक जीवन अपने आपको पूर्ण बाह्य जीवन में व्यक्त करेगा। इस प्रकार बौद्धिक समाज की स्थापना के प्रयत्नों से परे एक धार्मिक तथा आध्यात्मिक आदर्श हमारे सामने आ जाता है।

श्री अरविन्द का परिपूर्णता से तात्पर्य हमारे अन्दर स्थित भगवान की पूर्ण अभिव्यक्ति से है जहाँ अपने में सबको ओर सबमें अपने को देखने वाली विज्ञानमयी दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। वहाँ आत्म (Self) एवं अनात्म (Not-Self) में विरोध नहीं होता है। अपितु व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत एक ही सत्ता की तीन अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इस उच्च ध्येय की प्राप्ति न तो मनुष्य की सहज प्रेरणात्मक सत्ता से और न तो तर्कबुद्धि से ही सम्भव है। अपितु एक उच्चतर चेतना के द्वारा ही मनुष्य इस परिपूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

हमारी जटिल सत्ता के अन्दर अतिबौद्धिक तथा अवबौद्धिक तत्त्वों के साथ तर्क बुद्धि का जो सम्बन्ध है, उसका विश्लेषण इस स्थल पर करना चाहिए। ये दो अत्यन्त विपरीत के छोर हैं। इनके बीच में हमारी बुद्धि एक प्रकार के मध्यस्थ का काम करती है। अतिबौद्धिक तत्त्व परमतत्त्व की ओर झुका रहता है परन्तु इसकी विशेष शक्ति ससीम में असीम को तथा वैभिन्य में एकत्व को प्राप्त करने की होती है। इस प्रकार हमारा आध्यात्मिक विकास सापेक्ष से निरपेक्ष की ओर आरोहण करता है। मनुष्य अपनी

आध्यात्मिक विकास की अवस्था में सान्त में अनन्त की उपस्थिति का अनुभव करता है। परन्तु अवबौद्धिक तत्त्व का आधार निश्चेतन सत्ता है। यह सहज प्रेरणाओं तथा आवेग में फूट पड़ता है। इसका प्रयत्न अपने अस्पष्ट ज्ञान एवं प्रवृत्तियों में कोई व्यवस्था खोजना है। किन्तु इस अवबौद्धिक तत्त्व में परमतत्त्व की शक्ति भी विद्यमान है जिससे यह अभिव्यक्त हुआ है। इस अवबौद्धिक तत्त्व के अन्तर्गत अस्पष्ट तथा उग्र इच्छायें भी हैं जो इसे परमतत्त्व को अधिगत करने के लिए प्रेरित करती हैं। परन्तु अवबौद्धिक तत्व अज्ञान के द्वारा वैकासिकी प्रक्रिया में अग्रसर होता है। एतदर्थ वह इस प्रयत्न में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। तर्क वस्तुतः अतिबौद्धिक एवं आवेगों तथा सहज प्रेरणाओं की निम्नतर शक्ति के बीच में स्थित है। यह सहज प्रेरणाओं एवं आवेगों के जीवन को अपने हाथ में लेकर बौद्धिक मूल्यों के प्रकाश में उन्हें परिवर्तित तथा संशोधित करता है एवं एक व्यवस्था की स्थापना करता है। दूसरी ओर वह परमतत्त्व की ओर देखता है किन्तु यह उसका रहस्य ग्रहण नहीं कर पाता है। यह अपनी प्रकृति के अनुसार भेद, विभाजन एवं सान्तता के आधार पर ही गति कर सकता है और परमतत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाता है। एतदर्थ तर्क के स्तर पर सत्ता की अतिबौद्धिक, बौद्धिक तथा अवबौद्धिक शक्तियाँ उपस्थित तो अवश्य हैं परन्तु हमारी क्रियाओं में इनकी प्रधानता भिन्न-भिन्न तरह की है।

धार्मिक जीवन के दिव्य साम्राज्य के समक्ष बौद्धिक तर्क का स्वरूप बड़ा बौना हो जाता है। धार्मिक जीवन के कार्य तथा विचारों को वह देख तो सकता है किन्तु उसे समझने के लिए उसे उसकी प्रकृति के साथ ऐक्य स्थापित करना होगा। क्योंकि इस ऐक्य के बिना धार्मिक जीवन तथा उसके सत्य और अनुभूतियों को समझने के सभी बौद्धिक प्रयत्न स्थूल भ्रान्ति में ही परिवर्तित हो जायेंगे। तर्क धार्मिक जीवन के बाह्य रूप की ही व्याख्या कर सकता है, उसका सारतत्व एवं वास्तविक अर्थ तर्क की पकड़ के बाहर ही रहते हैं।

बौद्धिक तर्क या तो धार्मिक जीवन के तथ्यों को निरर्थक मानता है या उनका संरक्षक बन जाता है; इसी तरह धार्मिक जीवन में प्रतीत होने वाली त्रुटियों, अंधविश्वासों, असंस्कृतताओं को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है और एक तर्कवादी धर्म के अन्वेषण के लिये प्रवृत्त हो जाता है। इस रूप में तर्क मानव प्रगति एवं धर्म के

लिए उपयोगी है। किन्तु इसके अनुदार निषेधों में अहंपूर्ण मिथ्यात्व विद्यमान है। तर्कबुद्धि के कार्य करने की पद्धति नितान्त भिन्न है जो धार्मिक जीवन के मापदण्डों के अनुकूल नहीं है। तर्कवादी व्यक्ति धर्म से अपने अस्तित्व के लिए भौतिक प्रमाणों की माँग करता है जबकि धर्म का तत्त्व अतिभौतिक आत्मा की खोज है। तर्कबुद्धि अपनी अवधारणाओं को धर्म पर आरोपित करती है। किन्तु उसकी यह प्रवृत्ति अनौचित्यपूर्ण है क्योंकि इससे धर्म की सही व्याख्या नहीं की जा सकती। तर्कबुद्धि की धर्म की व्याख्याओं के परिणाम स्वरूप ही विकृतियों का सघन समूह इकठ्ठा हो गया है। इसका उदाहरण धर्म के तुलनात्मक विज्ञान की रचना करने के प्रयत्नों में देखा जा सकता है।

बौद्धिक धर्म बनाने के बुद्धि के सभी प्रयत्न अच्छे अभिप्राय से युक्त होने के उपरान्त भी निष्फल सिद्ध हुए हैं। धर्म का सारतत्व ईश्वर की खोज और उसकी प्राप्ति है जो कि धर्म के बाह्य विधान- पूजा, विधि, उत्सव आदि से परे है। धर्म का चरम लक्ष्य मनुष्य एवं भगान् के बीच निहित सच्चे सम्बन्धों को व्यक्त करना है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की सत्ता के प्रत्येक भाग को उसकी वर्तमान स्थिति से निकाल कर ईश्वर की ओर आरोहण तथा ईश्वर का मनुष्य के अन्दर अवरोहण चरितार्थ करना धर्म का चरम लक्ष्य है।

धर्म के इस चरम लक्ष्य में तर्क का किंचित् भी उपयोग नहीं है क्योंकि भगवान् का ज्ञान उसके पक्ष एवं विपक्ष में दी गयी युक्तियों से नहीं अपितु आत्म-अतिक्रमण एवं आत्मानुभूति से ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव भी दार्शनिक चिन्तन एवं वैज्ञानिक परीक्षण की सीमाओं से परे है। अतिबौद्धिक प्रकाश के स्तर पर ही यह अनुभूति हो सकती है। श्री अरविन्द के अनुसार तर्कबुद्धि को धार्मिक सत्ता एवं अनुभूति के सम्बन्ध में एक गौण कार्य करना है। ''उसका न्यासंगत क्षेत्र केवल एक ही है और वह यह है कि वह अपनी भाषा में, मनुष्य के तर्कवादी और बौद्धिक भागों के लिए हमारी अतिबौद्धिक और आध्यात्मिक सत्ता के सत्यों, अनुभूतियों तथा उसके नियमों की यथा संभव उत्तम रीति से व्याख्या करे।''[७] एतावतः आध्यात्मिक जिज्ञासु को इस बात का भली-भाँति भान होता है कि सर्वोच्च दार्शनिकता भी न तो सच्चा आन्तरिक ज्ञान प्रदान कर सकती है न तो आध्यात्मिक प्रकाश ही देती है और न अनुभूति के द्वार ही खोलती है। सर्वोच्च दार्शनिकता केवल बुद्धि के माध्यम से चेतना को उस पथ पर अग्रसर होने के लिये सम्बोधित कर सकती है।

अब तक धर्म के अतिबौद्धिक स्वरूप की बात कही गयी है किन्तु इसके अतिरिक्त मानव की समस्त अभीप्साओं का स्रोत एक अवबौद्धिक जीवन भी है जहाँ उसकी सहज प्रेरणायें, आवेग, संवेदनायें, स्थूल भाव और प्राणिक क्रियाओं का ही आधिपत्य है। किन्तु इन क्रियाओं में भी मनुष्य धार्मिक भावना का स्पर्श अनुभव करता है। इस प्रकार जब उच्चतम प्रवृत्तियों का निम्न अज्ञानमय प्रकृति के साथ सम्पर्क होता है तो नाना प्रकार के अज्ञान, भ्रम तथा संशय उत्पन्न हो जाते हैं जो तर्कबुद्धि अतिबौद्धिक स्तर पर अपनी विश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण पंगु हो जाती है वही इस अवबौद्धिक स्तर पर इन संशयों और भ्रमों के निवारण में, आवेगों तथा सहज प्रेरणाओं को शुद्ध करने तथा इन्हें बौद्धिक बनाने में निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इस तरह एक अवबौद्धिक तथा अशुद्ध धर्म के स्थान पर शुद्ध तथा बौद्धिक धर्म को लाने का प्रयत्न धार्मिक विकास में एक स्पष्ट प्रगति है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि सहज प्रेरणाओं और आवेगों वाले जीवन को तर्कबुद्धि के द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता है अपितु इसे आत्मा (Spirit) की ज्योतियों में ही ऊपर उठाकर शुद्ध तथा उदात्त बनाया जा सकता है। क्योंकि प्रकाश से विहीन तर्कबुद्धि धर्म के सत्य को उद्‌घाटित करने में असमर्थ होती है और धार्मिक प्रतीकों तथा रूपों में निहित अन्धविश्वासों के निषेध तक ही सीमित हो जाती है। स्पष्ट है कि धार्मिक विकास सदा ही प्रकाश के सहारे आगे बढ़ता है और धार्मिक विकास की दिशा भी बौद्धिकता से नहीं अपितु अतिबौद्धिक प्रकाश से ही निर्धारित होती है।

इस प्रकार तर्क तभी उपादेय हो सकता है जब वह मात्र बौद्धिक तर्क न होकर अन्तर्ज्ञानयुक्त (Intuitive) तर्क हो। तर्क को आध्यात्मिक तीव्रता तथा अर्न्तदृष्टि से युक्त होना आवश्यक है क्योंकि अवबौद्धिक के पीछे भी एक ऐसा सत्य विद्यमान है जो उसके (तर्कबुद्धि) क्षेत्र और निर्णयों के अधीन नहीं है। हृदय और प्राण की गति, अन्तर्ज्ञान, उसकी दिव्य या अर्धदिव्य अभीप्सा को तर्कबुद्धि नहीं माप सकती है। यदि धर्म की दुर्बोधता को दूर करने के लिए तर्क बुद्धि का आश्रय लिया जाय तो इससे धर्म शुद्ध नहीं होगा अपितु अपनी प्राणवत्ता ही खो देगा। अतः आवश्यकता है आत्म प्रकाश से दीप्तिमान तर्क शक्ति की। ''कारण, तब उस पर अन्तर्बोधयुक्त मन का अधिकार हो जाता है, और यह ज्ञान के एक और भी अधिक उच्च तत्व की ओर जाने का मार्ग है।

अत्यधिक व्यापक आध्यात्मिकता किसी भी मूल मानव-क्रिया या शक्ति का वर्जन नहीं करती, न उसे निरुत्साहित ही करती है, बल्कि वह उन सबको उनकी अपूर्णता और अन्धान्वेषी अज्ञान में से निकाल कर ऊँचा उठाने का कार्य करती है, अपने स्पर्श द्वारा उनका रूपान्तर करती है तथा उन्हें दिव्यसत्ता और दिव्यप्रकृति के प्रकाश, शक्ति तथा आनन्द के यंत्र बनाती है।''[८]

श्री अरविन्द का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि ''तर्कशील बुद्धि मूलभूत या आध्यात्मिक सत्यों की पर्याप्त निर्णायिका नहीं है; इसके अतिरिक्त, अनेक बार ऐसा होता है कि चूँकि उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति शब्दों और विविक्त (Abstract) विचारों के साथ ऐसा मान कर व्यवहार करने की है मानों वे ऐसी यथार्थतायें हों कि जिनको स्वीकार करना अनिवार्य हो, इसलिये वह उन्हें श्रृंखलाओं के रूप में अपने ऊपर लाद लेती है और उनसे परे जाकर हमारी सत्ता के मूलभूत और समग्र तथ्यों का स्वतंत्रतापूर्वक अवलोकन नहीं करती।''[९]

अतः श्री अरविन्द के अनुसार ''तर्कशील बुद्धि का वहीं तक उपयोग किया जाना चाहिये जहाँ तक वह हमारे अन्तर्दर्शन और ज्ञान की व्यवस्था को स्पष्ट करने में और उस दर्शन (vision) और ज्ञान की अभिव्यक्ति को न्यायसंगत ठहराने में सहायता करती है; परन्तु उसे हमारी अवधारणाओं पर शासन करने और जो सत्य उसके तर्क के कठोर ढाँचे के भीतर नहीं आता उसका बहिष्कार करने नहीं दिया जा सकता।''[१०] तर्कबुद्धि, परमतत्त्व एवं आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त नहीं कर सकती है। आध्यात्मिक ज्ञान एवं परमसत्ता की पूर्ण अनुभूति उच्चतर तर्क के द्वारा ही सम्भव है। जैसे भौतिक, प्राणिक, मानसिक नियम हैं, ठीक उसी प्रकार परमतत्त्व का भी नियम है। इसे ही उच्चतर तर्क या अनन्त का न्याय (Logic of the Infinite) कहा जाता है। परमतत्त्व के अपने स्थापित नियम हैं जिनके अनुसार वह कार्य करता है। वह अपनी समस्त क्रिया-विधि में एक युक्ति का प्रयोग करता है जो अतिमानसिक है। इस उच्चतर तर्क के स्वरूप एवं क्रियाविधि की अनुभूति मनुष्य को तभी हो सकती है जब कि वह अतिमानसिक चेतना को प्राप्त कर ले। मानव बुद्धि को यह उच्चतर तर्क और इसके कार्य जादू की तरह प्रतीत होते हैं। परन्तु वस्तुतः यह एक महत्तर न्याय, एक महत्तर युक्ति है। हमें यह समझने में कठिनाई होती है कि परमतत्त्व 'अणु से भी अणुतर एवं

महान् से भी महत्तर' (अणोरणीयान् महतो महीयान्) यथा 'वह दूर भी है तथा निकट भी है' (तद्दूरे तद्वन्तिके) ये दोनों ही विरोधी धर्म उसमें एक साथ कैसे रह सकते हैं? परन्तु उच्चतर तर्क के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है। वह एक ही साथ निर्गुण एवं सगुण, एक एवं अनेक सत् एवं सम्भूति, चित् एवं अचित् इन दोनों ही विरोधी भावों को धारण करने में सर्वतोभावेन समर्थ है। श्री अरविन्द के अनुसार इस उच्चतर तर्क के प्रकाश में ही आध्यात्मिक जीवन तथा परमसत्ता को हृदयंगम किया जा सकता है।

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृ० ७०-७१ (जगन्नाथ वेदालंकार तथा चन्द्रदीप त्रिपाठी द्वारा अनूदित, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी द्वारा प्रकाशित, १९६८)

२. श्री अरविन्द- मानव-चक्र; पृष्ठ ११७-११८ (श्रीमती लीलावती इन्द्रसेन द्वारा अनूदित एवं श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण)।

३. वही, पृ० ११९

४. वही, पृ० १२७

५. वही, पृ० १३७-१३८

६. वही, पृ० १३८

७. वही, पृ० १४८

८. वही, पृ० १५२

९. श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ० २३८ (श्री केशवदेव आचार्य द्वारा अनूदित एवं दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पाण्डिचेरी द्वारा प्रकाशित, १९७२)

१०. वही, पृ० २३९

●

रेवतीरमण पाण्डेय और अद्वैत की परम्परा

आनन्द मिश्र

भारतीय विद्याओं में अद्वैत का स्थान सर्वोपरि है । आरंभ से ही काशी इस विद्या की साधना स्थल रही है । अद्वैत की इस परम्परा को बीसवीं सदी में जहाँ स्वामी करपात्री जी, महेशानन्द गिरि, स्वामी योगीन्द्रानन्द जी, अखण्डानन्द सरस्वती जैसे वीतरागी संन्यासियों ने आगे बढ़ाने का काम किया वहीं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मनीषी आचार्यों ने अपने शोध-अनुसन्धानों द्वारा अकादमिक क्षेत्र में इस विद्या को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दी । राधाकृष्णन्, टी०आर०वी० मूर्ति, रमाकान्त त्रिपाठी, अशोक कुमार चटर्जी से लेकर रेवतीरमण पाण्डेय पर्यन्त विश्वविद्यालय के आचार्यों के चिन्तन का प्रमुख विषय अद्वैत रहा है। वस्तुतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मौलिक परम्परा अद्वैत की ही परम्परा रही है। उपरिलिखित विद्वानों में रमाकान्त त्रिपाठी को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने अद्वैत की इस परम्परा को और अधिक मूलगामी बनाया । प्रो० त्रिपाठी ने अपने विभिन्न लेखों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि दार्शनिक चिन्तन का उत्स ही एक तरह के मिथ्यात्व बोध के साथ होता है तथा उसका पर्यवसान तत्त्व की अद्वैतानुभूति में होती है। दर्शन की पद्धति अपने मौलिक स्वरूप में अद्वैत की पद्धति है जो महज बौद्धिक वाग्विलास या प्रत्ययों का अमूर्त आडम्बर खड़ा करना नहीं है, न ही यह सामान्य अनुभव की अन्वीक्षा है अथवा द्वन्द्वात्मक पद्धति या द्वन्द्वन्याय है। दर्शन मूल में प्रत्यगनुभव की गहन मीमांसा है जो अनुभूति के ऐसे आयाम से हमारा साक्षात्कार कराती है जिस ओर वैदिक ऋषि परम्परा/श्रुति बार-बार निर्देश करती है ।[१] प्रो० त्रिपाठी अपनी रचनाओं में अद्वैत की परम्परा को अन्य निरपेक्षवादी परम्पराओं से भिन्न सिद्ध करने के लिए उन

सारभूत तत्त्वों की तलाश का प्रयत्न करते हैं जो अद्वैत को इन कथित अद्वैताभासी चिन्तन पद्धतियों से भिन्न करते हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि प्रो० त्रिपाठी से पूर्ववर्ती और उनके शिक्षक रहे टी०आर०वी० मूर्ति अपने ग्रन्थ 'द सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म' में माध्यमिक शून्यवाद को एक निरपेक्षवादी दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसे वे अद्वैतवाद के तर्ज पर अद्वयवाद की संज्ञा देते हैं । मूर्ति माध्यमिक शून्यवादी अद्वयवाद को वेदान्तिक अद्वैतवाद की अपेक्षा एक अधिक परिमार्जित विकल्प के रूप में पाते हैं । प्रो० त्रिपाठी अपने लेख 'नागार्जुन ऑर शंङ्कर?' में, जो वस्तुतः उपर्युक्त ग्रन्थ की समीक्षा है, मूर्ति के मत का सयुक्तिक खण्डन प्रस्तुत करते हुए माध्यमिक शून्यवाद की अपेक्षा अद्वैतवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं।[२] त्रिपाठी का कहना है कि शून्यवाद जहां जगत् की शून्यता को मात्र तर्क के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है वहीं अद्वैत की महत्ता इस बात में है कि वह उस वास्तविक अनुभव की ओर ईशारा करता है जब हम यह पाते हैं कि जागतिक पदार्थ मिथ्या हैं। माध्यमिकों का कहना है कि जगत् को जब हम तर्क एवं बुद्धि की तुला पर तौलते हैं तो उसका स्वरूप आत्मव्याघाती सिद्ध होता है। पर त्रिपाठी पूछते हैं कि जगत् की यह तार्किक असंगतता भला उसके मिथ्यात्व को कैसे सिद्ध करती है? पदार्थों के सत्यत्व या मिथ्यात्व का निर्णय तो अनुभव ही कर सकता है, तर्क नहीं। तर्क का क्षेत्र तो मात्र यह निर्णय करना है कि क्या सुसंगत है और क्या असंगत। अब अद्वैत की यही श्रेष्ठता है कि वह 'मिथ्यात्व' को मात्र शुष्क तर्क के आधार पर न सिद्ध कर अनुभव के वास्तविक धरातल पर सिद्ध करता है। स्वप्न या भ्रम जैसे प्रातिभासिक अनुभव अनुभव के वे वास्तविक स्थल हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि जो अनुभूत होता है वह वस्तुतः सत्य हो, आवश्यक नहीं। त्रिपाठी बार-बार रेखांकित करते हैं कि अद्वैत की परम्परा में जो महत्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि अद्वैती इस बात को समझ सके कि सत्ता का मात्र पारमार्थिक या संव्यावहारिक स्तर न होकर ऐसा प्रातिभासिक स्तर भी है जहां असत् सत् की तरह प्रतीत होता है।

नितान्त असत् या तुच्छ जगत् जो वस्तुतः अलीक है कैसे सत् रूप में भासित होता है, यही अद्वैतवादियों के लिए सबसे बड़ा रहस्य है। 'स्वप्न' या 'प्रतिभास' वे वास्तविक अनुभव के क्षेत्र हैं जो ऐसा सम्भव बनाते हैं। फलतः 'प्रातिभासिक सत्' की

अवधारणा को अपनी विचार-सरणि में स्थान देकर अद्वैती 'अतत्त्व' की 'तात्त्विक अनुभूति' की व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से करने में सक्षम हुए । कहने की आवश्यकता नहीं, माध्यमिक 'प्रतिभास' के इस महत्व को समझ न सके ।[३]

रेवतीरमण पाण्डेय (१९४२-२००४) ने रमाकान्त त्रिपाठी के उपर्युक्त दार्शनिक चिन्तन को आगे बढ़ाते हुए अद्वैत की परम्परा में 'प्रातिभासिक' या 'प्रातीतिक' के महत्व को और अधिक रेखांकित किया। नानात्व या प्रपञ्च का विमर्श अद्वैतियों के लिए रूचि का विषय कभी नहीं रहा है । विशेषतः अद्वैत की मूलगामी परम्परा में- गौडपादकारिका, शङ्करकृत भाष्यों, योगवाशिष्ठ आदि में इसका स्पष्ट खण्डन किया गया है कि कभी किसी तरह का द्वैत रहा है या होगा, अथवा कि कभी 'एक' से 'अनेक' की उत्पत्ति हुयी हो । वस्तुतः 'उत्पत्ति' या 'परिणमन' जैसे शब्दों का वेदान्त में कोई स्थान बनता ही नहीं है । 'अजातवाद' ही अद्वैतियों का प्रमुख सिद्धान्त है । अस्तु, अद्वतियों के लिये समस्या यह नहीं है कि वह एक अद्वितीय तत्त्व नानात्वयुक्त जगत् के रूप में अपने को कैसे अभिव्यक्त करता है बल्कि समस्या यह है कि वह एक अद्वितीय तत्त्व नानात्वयुक्त जगत् के रूप में कैसे प्रतीत होता है । अतः समस्या एक के अनेकरूप 'होने' की न होकर 'दिखने' की है । जगत् या प्रपंच कोई देश कालावस्थित वस्तुसत् न होकर हमारी दृष्टि की उपज है ।

अपनी दार्शनिक जीवन की यात्रा में जो उनके लिये अद्वैत-साधना की अपर पर्याय थी प्रो० पाण्डेय ने 'अजातवाद' व 'दृष्टिवाद' को अपने अध्ययन का प्रमुख अन्वेष्य विषय बनाया । जर्मनी-प्रवास के दौरान उन्होंने इन दो विषयों पर दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखे । इन लेखों का अकादमिक जगत् में अभी मूल्यांकन किया जाना शेष है। प्रस्तुत लेख में मैं दृष्टिसृष्टिवाद पर केन्द्रित प्रो० पाण्डेय के दूसरे लेख ''सम फन्डामेन्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट-शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जो मेरी राय में अद्वैत-स्थापना के लिये किया गया उनका अतुलनीय प्रयास है ।[४] पाण्डेय इस लेख द्वारा अद्वैत को देखने की न केवल एक नई दृष्टि देते हैं अपितु यह सिद्ध करने में भी भलीभांति सक्षम होते हैं कि यही दृष्टि मूलगामी अद्वैत की दृष्टि (रही) है जो गौडपाद, योगवाशिष्ठकार, शङ्कर, सर्वज्ञात्मन् से होती हुयी प्रकाशानन्द

तक आती है । प्रकाशानन्द के बाद अद्वैत-चिन्तन की धारा में एक ठहराव सा दिखता है। प्रो० पाण्डेय अपने वैचारिक नवोन्मेष के द्वारा न केवल इस ठहराव को दूर करते हैं अपितु उसकी अजस्र धारा को और आगे बढ़ाते हैं।

अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रकाशानन्द की ख्याति उनके दृष्टिसृष्टिवाद के लिये प्रसिद्ध है। प्रकाशानन्द सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध के अद्वैत आचार्य हैं । अपने एकजीववाद, एक अज्ञानवाद व दृष्टिसृष्टिवाद के द्वारा उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त को उसकी तार्किक चरम परिणति तक पहुँचाया । प्रो० पाण्डेय अपने लेख ''सम फन्डामेन्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट-शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली'' में प्रकाशानन्द द्वारा प्रस्तुत अद्वैत-विमर्श की सघन समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। पारम्परिक अध्ययन में प्रकाशानन्द को दृष्टिसृष्टिवादी समझा जाता है । प्रो० पाण्डेय अपने अध्ययन द्वारा यह सिद्ध करने में समर्थ होते हैं कि दृष्टिसृष्टिवाद अजातवाद के अनुषंगी सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित होता है । वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार अन्ततः इस सिद्धान्त को भी 'अजातवाद' के पक्ष में खारिज कर देते हैं। वस्तुतः 'सृष्टि' का विमर्श अद्वैतियों के लिये कभी रूचि का विषय नहीं रहा है। फलतः जिस तरह सृष्टिदृष्टिवाद सृष्टि के रहस्य को समझाने में अक्षम है उसी तरह दृष्टिसृष्टिवाद भी। दृष्टिसृष्टिवाद भी अद्वैतियों के लिये पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है । यह भी एक सीढ़ी है अद्वैत स्थापन के लिये, ठीक उसी तरह जिस तरह सृष्टिदृष्टिवाद। अब यह प्रश्न अलग है कि कौन सी सीढ़ी अधिक अच्छी है और कौन कम। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार सृष्टिदृष्टिवाद की अपेक्षा दृष्टिसृष्टिवाद को अधिक परिपक्व, सुसंगत और अद्वैत की मूल प्रस्थापनाओं के अनुरूप पाते हैं । प्रकाशानन्द द्वारा प्रस्तुत दृष्टिसृष्टिवाद व उस पर प्रो० पाण्डेय की व्याख्या के सम्यक् अवबोध व विश्लेषण के लिये अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रस्तुत सृष्टिविषयक विभिन्न मतों का एक पुनरावलोकन अपेक्षित होगा।

अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सृष्टि को लेकर तीन मत मिलते हैं- सृष्टिदृष्टिवाद, दृष्टिसृष्टिवाद तथा अजातवाद। प्रथम मत परम्परा में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वेदान्तसार जैसे ग्रन्थों में इसी मत को आधार बनाकर सृष्टि की प्रक्रिया समझायी गयी है तथा उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है । अज्ञानोपहित चैतन्य से सकल जगत् की सृष्टि

पंचीकरण की प्रक्रिया द्वारा हुयी है। इस मत का आधार भगवान् भाष्यकार द्वारा प्रणीत 'पञ्चीकरण' ग्रन्थ है जिसमें सृष्टि सम्बन्धी उपनिषद् मत का समाकलन प्रस्तुत किया गया है। समस्त सृष्टि सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर से उत्पन्न है। यह ईश्वर समष्टिगत अज्ञान से उपहित चैतन्य का नाम है । यावत् जगत् और जागतिक वस्तुएँ पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्वारा सृष्ट हैं। यह जगत् हमारे मन की कल्पना या दृष्टि की उपज (दृष्टिसृष्टिवाद) भले ही न हो सर्वज्ञ, सर्वसशक्त परमात्मा द्वारा सृष्ट और उसके नियमों से अनुशासित तथा पोषित है। हमारी दृष्टि न तो इसको उत्पन्न करती है और न इसमें छेड़छाड़ कर सकती है (सृष्टिदृष्टिवाद)। हम जिस जगत् में रहते हैं वह हमारे द्वारा सृष्ट निजी जगत् न होकर एक सार्वजनिक जगत् है, जाहिर है ऐसे सार्वजनिक जगत् की रचना ईश्वर द्वारा ही हो सकती है। अतः ईश्वरसृष्ट जगत् जो हमसे निरपेक्ष रूप से पूर्व से ही विद्यमान है वह हमारी दृष्टि का विषय बनता है, न कि हमारी दृष्टि इस जगत् को उत्पन्न करती है ।

सृष्टि सम्बन्धी एतद् विचार 'व्यवहार' के अनुरोध से किया गया प्रतीत होता है। अद्वैत की परम्परा में त्रिविध सत्य की अवधारणा पर बल दिया गया है। जाग्रतकालीन वस्तुओं को व्यावहारिक रूप से सत् स्वीकार किया गया है। जगत् एवं जागतिक वस्तुएँ ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान हैं, यह इस मत का आधार है। हम जानते हैं कि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में तथा अन्यत्र अन्य उपनिषदों के भाष्य में बौद्ध-विज्ञानवाद की जमकर आलोचना की है । जाग्रत व स्वप्न का अन्तर कभी न मिटने वाला अन्तर है। अस्तु, स्पष्ट रूप से प्रतीयमान सर्वलोकप्रसिद्ध इस सर्वसाधारण जगत् की सत्ता को स्वप्नवत् कहकर खारिज नहीं किया जा सकता है । ज्ञाता व उसके ज्ञान से पृथक् वस्तुनिष्ठ जगत् की सत्ता बरबस अपने को हम पर आरोपित करती है। वस्तुओं के अस्तित्व को उनके ज्ञान में विघटित नहीं किया जा सकता है। वस्तु व उसका ज्ञान ये दोनों गोश्रृङ्गवद् अलग-अलग हैं । जो लोग जगत् को स्वप्नवत् बताते हैं, वे जाग्रत और स्वप्न के महान अन्तर को नज़रन्दाज करते हैं । प्रतिभास और व्यवहार भिन्न-भिन्न है। एक अद्वितीय परमसत् को स्वीकार करने के बावजूद तथा तद्भिन्न अखिल नानात्व को मिथ्या मानने के बावजूद अद्वैती ज्ञाता एवं उसके ज्ञान से पृथक् एक वस्तुनिष्ठ जगत् को उसी तरह स्वीकार करता है जैसे अन्य दूसरे लोग। व्यवहार की चिन्ता और सुरक्षा

अद्वैत मत में उसी तरह से होती है जैसे अन्य बाह्यार्थवाही दर्शनों के मत में। जगत् हमारे मन की कल्पना नहीं है, यह चित्त मात्र में घटित होने वाली घटना नहीं है। चित्त के परे व बाह्य एक सर्वलोकप्रसिद्ध जगत् विद्यमान है, हमारा ज्ञान इसको प्रकाशित करता है, उत्पन्न नहीं करता। यह जगत् मेरा ही जगत् नहीं है । हमारे ही तरह अन्य दूसरे जीवों से यह जगत् युक्त है। जाहिर है शङ्कराचार्य का मत आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद का नहीं है, न ही यह किसी तरह के अहम्मात्रवाद का पोषक है। शङ्कर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्पष्टतः वस्तुवादी हैं, व्यवहारवादी हैं। न्याय-वैशेषिक या अन्यों का बाह्यार्थवाद शङ्कराचार्य को पूरी तरह से स्वीकार्य है। अद्वैतवाद की परम्परा बाह्यार्थवाद को पूरी तरह से संपोषित करती है। इसी निमित्त परम्परा में व्यावहारिक सत् पर इतना आग्रह किया गया है। अब यदि ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् एक सर्वसाधारण वस्तुनिष्ठ जगत् विद्यमान है तो प्रश्न उठता है कि इसकी रचना कैसे हुयी, परम्परा में इस पर पर्याप्त आलोड़न हुआ और अन्ततः यह निश्चित हुआ कि एक क्रम विशेष से ईश्वर ने माया द्वारा जगत् की सृष्टि की। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ब्रह्म ही है। उसके द्वारा सृष्ट जगत् में ही सकल प्राणी जगत्, जीव-जन्तु, किन्नर, देव आदि निवास करते हैं। यह जगत् हमारे मन की कल्पना या उपज न हो परमात्मा द्वारा सृष्ट व उसके नियमों से अनुशासित व पोषित है।

इस सृष्टिदृष्टिवाद की दार्शनिक बुनियाद पर वेदान्त की परम्परा में इस बात की पर्याप्त अन्वीक्षा की गयी कि इस सृष्टि का रहस्य क्या है, उसका स्वरुप क्या है, उसकी प्रक्रिया क्या है? परम्परा में इस सम्बन्ध में प्रस्तुत नानाविध विकल्पों की अन्वीक्षा करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, परमाणुवाद, प्रधानवाद आदि सिद्धान्त 'सृष्टि' की प्रक्रिया एवं उसके स्वरूप को व्याख्यायित करने में अक्षम हैं। शङ्कराचार्य शारीरकभाष्य में कहते हैं कि अनेक कर्त्ता व भोक्ता से युक्त, प्रतिनियत देशकालनिमित्त वाले कर्मफल के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु-अचेतन प्रधान (सांख्य मत), परमाणु (न्यायवैशेषिक), शून्य (बौद्ध), स्वभाव (चार्वाक मत) अथवा आद्य हिरण्यगर्भ से नहीं हो सकती ।[५] आचार्य के उपनिषद् भाष्यों के अनुसार

समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के अनुरूप फल देने वाला, तीनों लोकों का स्वामी, सभी पर शासन करने वाला, प्रधान व पुरुष का नियमन करने वाला आत्मा ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपहित होकर अपनी शक्ति द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[६] वही समस्त जगत् को उत्पन्न करता है, स्थित रखता है तथा उसका नाश करता है अर्थात् प्रलय में उसे अपने में लीन कर लेता है । वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करने में कुम्भकार की तरह नहीं है जिसे कि अपने से पृथक् मृत्तिका रूप उपादान की आवश्यकता पड़ती है, अपितु केवल अपनी शक्ति को क्षुब्ध करने से वह जगद् की रचना तथा नियमन में समर्थ है ।[७] समस्त प्राणियों के चक्षु उस ईश्वर के ही हैं, इसी प्रकार समस्त प्राणियों के सभी अंग उसी के हैं। अपनी इच्छा मात्र से वह सर्वत्र सभी विषयों का ग्रहण कर सकता है। वह सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सबका शासक-प्रेरक है, वही हिरण्यगर्भ का जनक है।[८] इसी सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन श्रुतियों में किया गया है, उसे उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण कहा गया है तथा इसी की जिज्ञासा ब्रह्मसूत्र में की गयी है। वस्तुतः 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा के लिये वेदान्त के प्रवृत्ति की बात की गयी है उसी का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में दिया गया है। जगद् एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ब्रह्म द्वारा सृष्ट है। आगे 'ईक्षत्यधिकरण' में भाष्यकार ने इस बात पर पर्याप्त विमर्श किया है कि जगत्सृष्टि के प्रति ईक्षणकर्तृत्व किसमें है। सांख्यमत का विरोध करते हुए भाष्यकार यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईक्षणत्व या संकल्प जड़ प्रधान में नहीं हो सकता है। चेतन ईश्वर ही जगद् का कारण है ।[९] इसका अर्थ नहीं है कि केवल निमित्त कारण के रूप में ही यह ब्रह्म स्वीकार्य है, अपितु वह एक साथ ही निमित्त एवं उपादान कारण दोनो हैं । जैसे मकड़ी स्वयं अपने से जाल का निर्माण करती है वैसे ही वह सर्वसक्षम ईश्वर स्वयं से इस सृष्टि का निर्माण करता है ।

अब यहाँ स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि यदि इस जगत् की उत्पत्ति एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त स्वचेतन ईश्वर से हुयी है, वही इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो यह मत अन्य वैष्णव-वेदान्तियों रामानुज प्रभृति के मत से किस प्रकार भिन्न है। वस्तुतः सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की स्थिति को अद्वैत की परम्परा में एक सोपान के रूप में ही लिया जा सकता है, उसके तात्त्विक निहितार्थ के रूप में नहीं। परमार्थतः अद्वैत मत

में न तो नानात्वयुक्त जगत् है और न ईश्वर। एक अद्वितीय परमसत् से भिन्न यावत् सकल को मिथ्या ही मानना चाहिये। अब यदि ऐसा है तो सृष्टिपरक श्रुतियों एवं शास्त्रवचनों को उनके वास्तविक निहितार्थ में ही लेना चाहिए, न कि शब्दशः। समस्या मात्र यही नहीं है। प्रश्न है कि एक से नानात्व की सृष्टि भला कैसे हो सकती है, और इनके बीच सम्बन्ध की व्याख्या कैसे होगी? सम्बन्ध समानकोटिक सत्ताओं में ही हो सकता है- प्रपञ्च और परमसत् समानकोटिक नहीं है। पिर परमतत्त्व को वेदान्त की परम्परा में सारे प्रपञ्चों से, सम्बन्धों से, विशेषणों से अतीत बताया गया है । यह सही है कि परमतत्त्व परमब्रह्म को यावत् सकल का कारण भी बताया गया है तथा उसी से यावत् नानात्व की उत्पत्ति मानी गयी है। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि अद्वैत की परम्परा में कारणता व उत्पत्ति का अपना ही अर्थ है । परमतत्त्व तो सारे कारण सम्बन्धों से अतीत व उत्पत्ति एवं निरोध से परे है ।

यह सही है कि उपनिषदों में सृष्टिविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा के बाद एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर को जगद् के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म' इस रूप में ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है, कि सूत्रकार ब्रह्मसूत्र के दूसरे ही सूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार करते हैं, और कि त्रिवृत्करण व पञ्चीकरण का सिद्धान्त वेदान्त की परम्परा में बहुशः विवेचित होता है, पर जैसा कि शङ्कराचार्य ने भाष्यों में दिखलाया है और जैसा कि गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका में स्पष्ट किया है कि उपनिषदों का इन स्थलों में वास्तविक प्रतिपाद्य ब्रह्म की अनन्यता सिद्ध करना है न कि सृष्टिप्रक्रिया बतलाना। वेदान्त का वास्तविक मत ब्रह्मपरिणामवाद न होकर ब्रह्मविवर्तवाद है। एक से अनेक का परिणमन प्रतीयमान ही है, वास्तविक नहीं। तत्त्वतः एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमसत् की सत्ता है और उसका यावत् विध नानात्व के रूप में परिणमन तत्त्वतः न होकर प्रातीतिक ही है। यही अद्वैतवादियों का विवर्तवाद है जो तात्त्विक परिणमन या उत्पत्ति को सिरे से खारिज करता है। अद्वैती जब ब्रह्म को उपादान कारण बताते हैं तो उनका आशय विवर्तोपादान से है, परिणामोपादान से नहीं। तात्त्विक अन्यथाप्रथा या परिवर्तन, परिणाम, उत्पत्ति या सृष्टि का परमार्थतः अद्वैत मत में कोई

स्थान नहीं बनता। वस्तुतः सृष्टिवाद का अद्वैत में कोई स्थान नहीं बनता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती अपने इस निष्कर्ष पर कि ब्रह्म सभी कारण सम्बन्धों से परे है, कि तत्त्वतः परिणमन, उत्पत्ति या सृष्टि का अद्वैत मत में कोई स्थान ही नहीं बनता, स्वयं 'सृष्टि' या 'कारणता' जैसे प्रत्ययों के विश्लेषणोपरान्त पहुँचते हैं । शङ्कराचार्य कहते हैं 'उत्पन्न होता है' ऐसे शब्दों या प्रत्ययों का प्रयोग मूढ़ या अविवेकी ही करते हैं । विवेकी तो उनकी परीक्षा करके देखते हैं कि वे सत्य हैं या मिथ्या। और विश्लेषणोपरान्त यही बोध होता है कि शब्द या प्रत्ययों के विषयभूत घट पटादि पदार्थ वस्तुतः शब्द मात्र हैं । वाचारम्भण श्रुति का वस्तुतः यही आशय है- अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्यते किं सत्यमेव तावुत मृषेति। यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। वाचारम्भणम् इति श्रुतेः । माण्डूक्यकारिकाभाष्य -२/१७-१८

पुनश्च जैसा कि हम जानते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् के 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है और कार्य मिथ्या है- वाचारम्भण मात्र है। तत्त्व तो एक मात्र मिट्टी या स्वर्ण है, भले ही हम उसे घड़ा, सकोरा का नाम दें या कंगन या कुण्डल कहें । वस्तुतः कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है, कार्य तो वाचारम्भण मात्र है, मिथ्या है- वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम् .....। छान्दोग्य उपनिषद् ६/१/४-६ । शङ्कराचार्य भाष्य करते हुए कहते हैं- वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति।[१०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कराचार्य स्पष्टतः विकार या उत्पत्ति को खारिज करते हैं । कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है, कार्य मिथ्या है, वाचारम्भण है। कारण सदा अविकृत रहता है, नामरूपादि विकार वाचारम्भण है, इसलिये कार्य या प्रपञ्च के रूप में कारण के परिणमन को मायिक ही समझना चाहिये। तत्त्व सर्वदा अविकृत ही रहता है-तस्मादस्ति अविकृतं ब्रह्म । ऐसी स्थिति में नाम रूपादि जगद् या प्रपञ्च के सृष्टिपरक कारण के रूप में जो उस तत्त्व की व्याख्या की जाती है, वह वस्तुतः उपमानमूलक है, लक्ष्य तो ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन है । शङ्कर कहते हैं कि अन्न के मूल में जल को, जल के

मूल में तेज को और तेज के मूल में सत् ब्रह्म को बतलाकर श्रुति वस्तुतः समस्त सृष्टिव्यापार को ब्रह्म प्रतिपत्ति के अर्थ में बतलाती है- दर्शयति च सृष्ट्यादि प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्- 'अनेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ'।[११] शङ्कर कहते हैं कि ''यह सृष्टि आदि प्रपञ्च वेदान्त का प्रतिपाद्य नहीं है ।... उपक्रम और उपसंहार से उपनिषदों के ब्रह्म विषयक वाक्यों के साथ सृष्टिपरक वाक्यों की एकवाक्यता मालूम होती है ।''[१२] इसी तरह ब्रह्मसूत्र २/१/२७ के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि जगत् सृष्टि सम्बन्धी सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यभाव प्रतिपादन के लिये है । जगत् सृष्टिसम्बन्धी, परिणाम सम्बन्धी श्रुतियों का अर्थ स्वयं में न होकर आत्मैकत्व प्रतिपत्यर्थ है- न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था....। सर्वव्यवहारहीन ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादनार्था त्वेषा...।

गौडपाद माण्डूक्यकारिका में कहते हैं कि जब उपनिषद् सृष्टिकार्य को कारण से भिन्न बतलाकर मृत्तिका, सुवर्ण, लौह, विस्फुलिङ्ग आदि के दष्टान्त देते हैं तो इनका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि वास्तविक है। ये दृष्टान्त तो हमें समझाने के साधन हैं, उपाय हैं, वास्तव में किसी प्रकार का भेद नहीं है-

मृल्लौह विस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन्।।[१३]

अर्थात् मिट्टी, लोहा, अग्निकण आदि का दृष्टान्त देकर जो सृष्टिप्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारों से बताई गयी है, वह सिर्फ जीव और ब्रह्म की एकता बताने का तरीका है। शङ्कर उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मिट्टी, लोहा, विस्फुलिङ्ग आदि के दृष्टान्त को उद्धृत कर जो सृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित की गयी है, वह सब सृष्टि प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता को बुद्धि में अवतारित करने का उपाय है। इसी तरह वेदों के अन्य सृष्टिपरकवाक्यों को भी समझना चाहिए अर्थात् वेदों के सृष्टिविषयक वाक्यों का तात्पर्य जीव और ब्रह्म की एकता बताना ही है, सृष्टिक्रम बताना नहीं ।[१४]

एवंप्रकारेण हम देख सकते हैं कि सृष्टिदृष्टिवाद एवं उस पर आधारित तमाम सृष्टि-विमर्श का अद्वैत मत में वस्तुतः कोई स्थान नहीं बनता है। यह सम्पूर्ण विमर्श हमें

बरबस ही वैष्णव वेदान्तियों व सांख्यों द्वारा प्रस्तुत सृष्टिविमर्श की याद दिलाता है। वस्तुतः यह न तो अद्वैतियों की रूचि का क्षेत्र है और न ही उनके मत से पूर्ण संगत। हॉलांकि स्वयं अद्वैत की परम्परा में रहते हुए यह दिखाया जा सकता है और जैसा कि विभिन्न सृष्टिदृष्टिवादी आचार्यों ने दिखाया है कि ऐसे (भी) विमर्श से अद्वैत को कोई क्षति नहीं पहुँचती । कहा जा सकता है कि वैष्णववेदान्ती या सांख्य या कदाचित् न्यायवैशेषिक आचार्य भी सृष्टि आदि का जो क्रम बताते हैं तथा उसकी जो व्याख्या करते हैं व्यवहार में अद्वैतियों को वह पूरी तरह से मान्य है, हाँ अद्वैतियों के लिये यह पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है। तो अद्वैतियों का स्वारस्य किस सिद्धान्त में है? एतद् विषयक उनका पारमार्थिक सिद्धान्त क्या है?

अद्वैतियों के लिए एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमात्म तत्त्व की ही सत्ता है, तद्भिन्न यावत् सकल मिथ्या है। यह नानात्व या भेदरूप जगत् वस्तुतः उनके अनुसार अज्ञानप्रसूत है, आविद्यक है, प्रातीतिक है । ऐसी स्थिति में हम देख सकते हैं कि अद्वैत मत में मुख्य समस्या एक से अनेक की सृष्टि की न होकर यह है कि यदि एक अद्वितीय चिदानन्द रूप तत्त्व की ही सत्ता है तो वह तद्रूप ही क्यों नहीं प्रकाशित होता है ? अद्वैत की जगह नानात्वयुक्त जगत् प्रपञ्च या द्वैत की प्रतीति क्यों होती है? अतः समस्या एक से अनेक की सृष्टि की न होकर यह है कि एक से अनेक की प्रतीति क्यों होती है? द्वैत, नानात्व या तद् रूप जगद् या प्रपञ्च की प्रतीति को कोई भी अद्वैती झुठलाता नहीं है। हाँ, जहाँ सृष्टिदृष्टिवादी यह कहना चाहते हैं कि इनकी प्रतीति जीव को इसलिये होती है कि ये उससे पृथक् स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं, अर्थात् द्वैत, नानात्व, जगत् या प्रपञ्च है, इसलिये जीवों को यह प्रतिभान होता है, दृष्टिसृष्टिवादी इसके वस्तुनिष्ठ अस्तित्व को सिरे से नकारते हुए यह कहते हैं कि यह द्वैत या नानात्व की प्रतीति ही कथित् जगत् या प्रपञ्च है। फलतः एक की अनेक रूप में प्रीतति या कहें कि अद्वैत का द्वैत रूप में भान ही सृष्टि है । और सृष्टिविषयक समस्या का समाधान इसी प्रश्न का उत्तर है कि कैसे वह एक अद्वितीय ब्रह्म, जीव एवं जगत् के रूप में भासित होता है। इस तरह एक का अनेक होना सृष्टि न होकर एक का अनेक दिखना ही अद्वैत मत में सृष्टि है और तभी हम समझते हैं कि 'एक का अनेक होना' ऐसी स्थिति समझने पर अद्वैत मत में

जो तमाम सृष्टि सम्बन्धी मत आते हैं वे सिद्धान्त से न्याय नहीं कर पाते । वस्तुतः देखा जाए तो कोई नानात्व या जगत् नहीं है जिसकी सत्ता है एवं जो मूल सत्ता से जन्य है, अपितु 'नानात्व' या 'जगत्' की प्रतीति ही जगत् है । जगत्-प्रतीति और जगत् अद्वैत मत में एक ही हैं और जगत् की प्रतीति होना ही कथित सृष्टि है ।

एवंभूत हम देखते हैं कि अद्वैत मत में एक अद्वितीय चैतन्यरूप परमात्मतत्त्व की ही सत्ता है, अज्ञान या अविद्यावश वह तत्त्व अपने इस स्वरूप का साक्षात्कार न कर अपने को सीमित ज्ञाता के रूप में अनुभव करता है तथा नानात्व और प्रपञ्च से युक्त जगद् को देखता है। द्वैत और नानात्व के अनुभव को दृष्टिसृष्टिवादी भी स्वीकार करते हैं, पर वे इसे अनुभव से पृथक्-प्रतीति से पष्थक् स्वतन्त्र नहीं मानते । दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार एक मात्र अद्वितीय आत्मचैतन्य की सत्ता है, तद्भिन्न सारे अनात्म पदार्थ प्रातीतिक हैं, प्रातिभासिक हैं। प्रतीति से भिन्न इनकी सत्ता नहीं है, प्रतिभास मात्र ही इनकी सत्ता है। वस्तुओं की सत्ता उनके ज्ञान से पृथक् नहीं है, फलतः एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न यावत् जगत् व उसमें जो कुछ भी भासित होता है, उसकी सत्ता उसके ज्ञान से पृथक् नहीं है । दृष्टिसमकालीन ही सृष्टि है या दृष्टि ही सृष्टि है । वस्तुओं का दिखना ही उनका होना है, इस दिखने से भिन्न उनका कोई निजी अस्तित्व नहीं है । ऐसा नहीं है कि वस्तुएँ पहले से विद्यमान हैं, कि हमसे पृथक् देशकालावस्थित जगद् व जागतिक वस्तुएँ स्वयं में विद्यमान हैं और हम उन्हें अपने ज्ञान द्वारा अज्ञात से ज्ञात बनाते हैं । बल्कि सच तो यह है कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक् है ही नहीं । दृष्टिपर्यन्त ही सृष्टि है, दृष्टि के समय ही सृष्टि होती है और तावत् पर्यन्त ही विद्यमान रहती है। दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार एक अद्वितीय चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की ही सत्ता है । तद्भिन्न वस्तुतः कोई है नहीं। अतः तद्भिन्न यदि कुछ दिखता है तो वह मिथ्या ही समझना चाहिये। सकल भेद, नानात्व व उनसे युक्त जगत् वस्तुतः अज्ञानप्रसूत है। तत्त्वतः उनकी सत्ता नहीं है, वे असत् हैं। अत असत् होते हुए भी वस्तुयें यदि दिखाई दें तो वे स्वप्नवत् मिथ्या ही होंगे।

दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार परमार्थतः एक अद्वितीय चित् तत्त्व की ही सत्ता है तथापि प्रतीति के अनुरोध से द्विविध सत्ता स्वीकार की जा सकती है- पारमार्थिक व

प्रातिभासिक। प्रतिभास ही शरीर हो जिसका उसे प्रातिभासिक कहते हैं। अथवा प्रतिभास मात्र में- प्रतीति मात्र में जिसकी सत्ता हो उसे प्रातिभासिक कहते हैं। वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञानकाल में ही वस्तुओं का अस्तित्व है, जब तक वे ज्ञात हो रही हैं तभी तक उनकी सत्ता है, उस ज्ञान से पष्थक् उनकी कोई सत्ता नहीं है । वस्तुओं की कोई अज्ञात सत्ता नहीं है। जिस तरह स्वाप्निक वस्तुओं की सत्ता तभी तक है जब तक स्वप्न हो रहा है, उसी तरह जाग्रत दशा की वस्तुओं की भी सत्ता तभी तक है जब तक वे हमारे द्वारा अनुभूत हो रही हैं । जिस तरह स्वाप्निक वस्तुओं की सत्ता उतनी ही है जितनी वे देखी जा रही है, उसी प्रकार जाग्रत वस्तुओं की भी सत्ता उतनी ही हैं जितना वे हमारे दृष्टि (पथ) में आती हैं, उतने देर तक ही सत्ता है जितने देर तक हमारे दृष्टि (क्षेत्र) में रहती हैं। वस्तुतः जाग्रत का स्वप्न से कोई विरोध नहीं है। स्वप्न व जाग्रत में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। पहला एक क्षण तक रहता है तो दूसरा दो क्षण। इसीलिये गौडपाद माण्डूक्यकारिका में कहते हैं कि सृष्टि का स्वरूप स्वप्न या माया के समान है। जिस प्रकार स्वप्न या मायाजाल में वस्तुएँ न होते हुए भी दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार संसार में वस्तुएँ नहीं है, फिर भी दिखाई पड़ती हैं- स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।। माण्डूक्यकारिका २/३१ । गौडपाद का कहना है कि जाग्रत का स्वप्न से कोई वैलक्षण्य नहीं है, दोनों में अनुभूयमानत्व समान है। वस्तुतः दोनों ही समान रूप से वितथ हैं। गौडपाद की तरह ही योगवाशिष्ठकार भी कहते हैं कि समस्त सृष्टि वस्तुतः संविदात्मा के भीतर घटित होने वाले स्वप्न के समान है। इसका प्रतिभास में ही उदय होता है, उसी में स्थिति रहती है तथा वहीं लय हो जाता है।[१५] प्रतिभास से पृथक् सृष्टि की कोई स्थिति नहीं है। स्वयं भगवत्पाद शङ्कराचार्य विवेकचूड़ामणि में संसार को मन की रचना बताते हैं। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुरूप ही वे संसार को स्वप्न व मन द्वारा कल्पित बताते हैं । आगे सर्वज्ञात्मन् अपने संक्षेपशारीरक में, मधुसूदन सरस्वती सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में व प्रकाशानन्द अपने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में जगत् को स्वप्नवत् प्रातिभसिक बताते हुए उसके मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं ।[१६] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अद्वैत के भीतर दृष्टिसृष्टिवाद की एक पूरी परम्परा समानान्तर रूप से दिखायी पड़ती है जो जगद् वैचित्र्य के मूल में किसी

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न स्वीकार कर मानव मन को ही इस संसार के रचयिता के रूप में देखती है । बन्धन एवं मोक्ष को मन के खेल के रूप में देखती है। जगत् को उसके ज्ञान (के रूप) में विघटित करती है और इस प्रकार एक तरह के आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद या अहम्मात्रवाद को पोषित करती है। प्रकाशानन्दकृत वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में इस चिन्तन को पराकाष्ठा प्राप्त होती है ।

प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में अद्वैत के सिद्धान्त को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाते हैं। यदि एक मात्र अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व की ही सत्ता है, तो इस आत्मतत्त्व की नानात्व रूप में किसी भी प्रकार की अवस्थिति (किं वा प्रतीति भी) मिथ्या है । अब यदि ऐसा है तो अद्वैत मत में नानाजीववाद या अनेकजीववाद को किसी भी प्रकार अवकाश नहीं है। एकजीववाद ही अद्वैतदृष्टया समीचीन है। पुनश्च जगत् का व्यावहारिक भी अस्तित्व स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। प्रकाशानन्द का तर्क है कि जगत् का अस्तित्व वस्तुतः उसकी प्रतीति से भिन्न नहीं है। परमार्थतः परमचैतन्यरूप आनन्दात्मा की ही सत्ता है, तद्भिन्न समस्त कार्यजगत् व उसकी प्रतीति, भेद और भेद का ज्ञान सब मिथ्या है, मायिक है, आविद्यक है- **ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नकार्यजगतं ज्ञानज्ञेयरूपं तत्सर्वमाविद्यकमेव**।[१७] सकलनानात्व की तभी तक सत्ता है जब तक वे दृश्य हो रही हैं, ज्ञात हो रही है, प्रतीत हो रही है। प्रतीति से भिन्न वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में हम सहज देख सकते हैं कि सामान्य व्यावहारिक वस्तुओं और स्वाप्निक तथा भ्रामिक वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार इस निष्कर्ष को निस्संकोच स्वीकार करते हैं। वस्तुओं के प्रातिभासिक और व्यावहारिक स्वरूप में भेद का वस्तुतः कोई आधार नहीं है। सत्ता द्विविध है। परमार्थतः एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता है। सकल भेद या नानात्वयुक्तजगत् व जागतिक पदार्थों की प्रातीतिक सत्ता है अर्थात् प्रतीतिकालीन सत्ता है, परमार्थतः उनकी सत्ता नहीं है। एवंभूत हम देख सकते हैं कि प्रकाशानन्द सत्ता के त्रिविध स्तरों- परमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक के स्थान पर उसके द्विविध रूप को प्रस्तावित करते हैं ।[१८] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार का उपर्युक्त प्रस्ताव नितान्त अभिनव है, पर जैसा कि रेवतीरमणपाण्डेय कहते हैं कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार अपने इस द्विविध सत्ता के सिद्धान्त को अभिनव नहीं बताते

हैं।[१६] प्रकाशानन्द का कहना है कि परम्परागत आचार्यों ने कभी भी व्यावहारिक सत्ता को प्रातीतिक से परे नहीं माना तथा व्यवहार व प्रतिभास के कथित भेद को प्रतीति या प्रतिभास के अन्तर्गत का ही भेद माना- **भ्रान्तबुद्धिसिद्धावान्तरवैषम्याश्रित व्यावहारिकसत्त्वाभिधान विरोधात्**।[२०] अब यदि व्यवहार और प्रतिभास का कथित भेद वस्तुतः प्रतीति के भीतर का ही है तो हम सहज समझ सकते हैं कि जाग्रत और स्वप्न में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुतः स्वप्न की सारी विशेषतायें और लक्षण जाग्रत पर तथाविधा ही लागू होती हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वसुबन्धु ने विज्ञाप्तिमात्रतासिद्धि में इस बात को बड़े ही विलक्षण ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार हमारे ज्ञान से पृथक् बाह्यार्थ की कोई सत्ता नहीं है तथा स्वप्न व जाग्रत की अवस्थाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। बाह्य वस्तुओं के समस्त गुण धर्म स्वाप्निक वस्तुओं पर भी लागू होते हैं। अस्तु, प्रकाशानन्द के अनुसार व्यावहारिक सत्ता नामक कोई चीज नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक नहीं है। ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से विद्यमान देश-काल में अवस्थित सर्वलोकप्रत्यक्ष किसी जगत् की सत्ता नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर श्रुति, स्मृति या वेदान्त के शास्त्रीय ग्रन्थों में जो ईश्वर को इस सर्वलोक प्रसिद्ध जगत् का स्रष्टा बताया गया है तथा सृष्टिदृष्टिवाद के अनुरूप जगत् व जागतिक पदार्थों की परमात्म तत्त्व से सृष्टि की प्रक्रिया बतायी गयी है उसकी व्याख्या कैसे होगी? इसके उत्तर में प्रकाशानन्द भी वेदान्त के अन्य संप्रदायविद् आचार्यों की तरह कहेंगे कि उपर्युक्त स्थलों में श्रुति आदि का तात्पर्य जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का वास्तविक विवरण या प्रतिपादन न होकर, आत्मैकत्वविद्या का प्रतिपादन है। उपर्युक्त सृष्टिप्रकथनों को वेदान्त की अध्यारोपापवाद की प्रणाली के सन्दर्भ में समझना चाहिये। इनके द्वारा साधक को आत्मैकत्वविद्या के पथ पर अग्रसारित किया जा रहा है।[२१]

जैसा कि पीछे बताया गया प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में दृष्टिसृष्टिवाद को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाते हैं। दृष्टिसृष्टिवाद से आशय है कि दृष्टिसमकालीन ही सृष्टि है, किसी चीज का ज्ञात होना ही उसका अस्तित्व है, दृष्ट या प्रतीत होना ही उसकी सत्ता है- **प्रतीतिसमकालीनमेव सत्त्वम्, प्रातीतिकं सत्त्वम्**। अब इस दृष्टिसृष्टिवाद के दो रूप हो सकते हैं। प्रथम वह जिसमें यह माना जाए कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके

दृष्टिपर्यन्त ही है- दृष्टिसमये एव प्रपञ्चसृष्टि। जबकि दूसरे मत के अनुसार दृष्टि ही सृष्टि है- दृष्टिरेव सृष्टिः। वस्तुओं का अस्तित्व उनका दृष्ट या अनुभूत होना है । प्रथम के अनुसार प्रतीतिसमकालीन ही सत्ता है, दूसरे के अनुससर वस्तुतः प्रतीति ही सत्ता है। सिद्धान्तलेशकार के अनुसार इसमें दूसरा ही प्रकाशानन्द का मत है।[२२] प्रो० पाण्डेय इसे उचित मानते हैं क्योंकि प्रकाशानन्द के अनुसार ज्ञान एवं ज्ञेय में या प्रतीति तथा प्रतीत्य में चूँकि भेद नहीं है, अतः वस्तुओं का अस्तित्व उसके ज्ञात होने या दृष्ट होने में ही निःशेष हो जाता है । वास्तव में मुक्तावलीकार को इस बात की चेतना थी कि प्रथम मत एक प्रकार के ज्ञानमीमांसीय संदेहवाद या अज्ञेयवाद को प्रोत्साहित कर सकता है,[२३] इसलिए वे दृष्टि को ही सृष्टि सिद्ध करने के लिये विशेष उत्सुक हैं। अस्तु, हम देख सकते हैं कि दृष्टिसृष्टिवाद के अपेक्षाकृत अधिक उग्र या अतिवादी प्रारूप को प्रकाशानन्द स्वीकार करते हैं। यह उग्रता तब और प्रचंड हो जाती है जब हम इस सिद्धान्त के अन्वय-प्रारूप के स्थान पर व्यतिरेक-प्रारूप पर बल देते हैं, जैसा कि प्रो० पाण्डेय अपने लेख में दिखाते हैं। तब दृष्टिसृष्टिवाद का मात्र यह अर्थ नहीं रह जाता कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञात होने में है, बल्कि उसका यह अर्थ भी होता है कि ज्ञान से पृथक् वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। जगत् व जागतिक वस्तुओं की सत्ता उनके ज्ञान में ही, प्रतीति में ही है। ज्ञान या प्रतीति से पृथक् वस्तुओं की कोई सत्ता नहीं है- **अननुभूयमानं द्वैतं... न किंचिदस्ति**। वास्तव में सारा का सारा वस्तुवाद धाराशायी हो जाता है यदि यह मान लिया जाए कि वस्तुओं की कोई अज्ञात सत्ता नहीं होती जैसा कि प्रकाशानन्द मानते हैं- **अज्ञातसत्त्वं नेष्टम्**।

हम देख सकते हैं कि सकल भेद और नानात्व से युक्त जगत् एवं जागतिक वस्तुओं की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं है। इनकी सत्ता दृष्टिपर्यन्त ही है या कहिये कि दृष्टि से पृथक् इनकी सत्ता नहीं है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब हम वस्तुओं को देख नहीं रहते हैं, सुन नहीं रहते हैं, स्पर्श नहीं कर रहे होते हैं तब क्या उनका अस्तित्व नहीं रहता है? क्या जगत् जब हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो रहा है तब उसकी सत्ता नहीं रहती? क्या जब हम आंख बंद किये हों, या दीर्घ निद्रा या सुषुप्ति में हों, या मूर्च्छा की अवस्थाओं में हों तब जगत् नहीं रहता है? क्या सुषुप्ति से उठने पर जीव पुनः वापस

उसी संसार में नही लौट जाता? प्रकाशानन्द पूरी ईमानदारी से यह स्वीकार करते हैं कि देखने के क्रम में ही या जाने जाने के क्रम में ही जगत् की सृष्टि होती है। जब हम देख नहीं रहे होते हैं, यथा सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि स्थितियों में, तब यह जगत् तिरोहित हो जाता है। अर्थात् क्षण-क्षण में इसका उद्भव होता है, लय होता है-**जगत् सर्वं...उद्भूय स्थितम् आस्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः**।[२४] सुषुप्ति या मूर्च्छा के समय सचमुच जगत् तिरोहित हो जाता है। जहाँ तक जगने पर पुनः उसी जगत् में लौटने की बात है तो यह उसी तरह के कल्पित लोक में वापस लौटने की तरह है। जिस जगत् में निद्रा के बाद हम लौटते हैं वह पुराने कल्पित लोक के समान होने से भ्रम पैदा करता है कि वही लोक है, वही जगत् है । यह भ्रान्ति वस्तुतः समानता के कारण होती है, न कि तादात्म्य के कारण।

एवंभूत हम देख सकते हैं कि प्रकाशानन्द ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् किसी वस्तुनिष्ठ स्थायी जगत् की संभावना को सिरे से खारिज करते हैं। समस्त जगत् दृष्टिमात्र है- **दृष्टिमात्रं जगत्त्रयम्**। सकल भेद और नानात्व की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा के भीतर है। आंख का खोलना ही जगत् है। आँख बन्द करना ही जगत् का लय है- **आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः। आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्**।।[२५] जाहिर है प्रकाशानन्द दृष्टिसृष्टिवाद को उसकी चरम तार्किक परिणति तक ले जाते हैं। विज्ञाता के विज्ञान से पृथक् किसी 'अन्य' की सत्ता नहीं है। यह 'अन्य' चाहे बाह्य जड़ वस्तुयें हों या अन्य दूसरे जीव। जिस प्रकार जड़ वस्तुओं के रूप में प्रतिभासमान 'अन्य' की सत्ता विज्ञाता के विज्ञान से पृथक् नहीं है उसी प्रकार नाना जीवों के रूप में प्रतिभासमान हमारी ही तरह दिखने वाले अन्य मनुष्यों, जीवों की सत्ता नहीं है। जैसे नानाविध वस्तुएँ नहीं हैं वैसे ही नानाविध जीव भी नहीं है। नानाविध वस्तुओं की तरह ही नानाविध जीव स्वप्नवद् आभास हैं। जाहिर है अन्य जीवों की सत्ता का खण्डन कर प्रकाशानन्द अहम्मात्रवाद के घोर समर्थक के रूप में सामने आते हैं। न कोई नाना वस्तुएँ हैं, न नाना जीव-जन्तु (व मनुष्य) और न कोई सर्वलोकप्रत्यक्ष जगत्। मैं हूँ और मेरा जगत् है। यदि मैं और मेरे जगत् की ही सत्ता है तो इस जगत् की उपपत्ति के लिये किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह जगत् तो मेरा ही जगत् है, कोई अन्तर्विषयी वस्तुनिष्ठ जगत् तो है नहीं जिसके स्रष्टा के रूप में

ईश्वर की अपेक्षा होगी। मैं मात्र हूँ, हाँ मेरा एक वास्तविक स्वरूप है और एक अज्ञानबद्ध।[२६] वास्तविक स्वरूप में मैं ब्रह्म ही हूँ, अद्वितीय प्रज्ञानधन आनन्दात्मा, अज्ञानवश मैं अपने को नानाविध जगत् में विचरित करते हुए पाता हूँ। प्रकाशानन्द कहते हैं- एक ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषद्मात्रैक्यगम्य आत्मतत्त्व है। अज्ञान का आश्रय लेकर वही जीवभाव को प्राप्त होता है, देवतिर्यङ्मनुष्य आदि के देहों की परिकल्पना करता है, अज्ञान द्वारा चौदह भुवनों की रचना करता है तथा यह सोच भ्रान्त होता है कि इन देहों में कोई देव है, कोई मनुष्य है, कोई सबका स्रष्टा हिरण्यगर्भ है, कोई पालनकर्त्ता विष्णु तो संहारकर्त्ता रूद्र।[२७]

प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद विज्ञानवादी दर्शन का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।[२८] अन्य विज्ञानवादी दार्शनिकों की अपेक्षा प्रकाशानन्द विज्ञानवाद को उसके चरम तक पहुँचाते हैं। यदि ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् अन्य सत्ता नहीं है तो पिर नाना जीवों की सत्ता को मानने का कोई आधार नहीं बनता। आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद की तार्किक परिणति अहम्मात्रवाद में होती है। प्रकाशानन्द इस निष्कर्ष को पूरी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि विज्ञानवाद के प्रबल समर्थक बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति विज्ञानवाद के धरातल पर सन्तानान्तरसिद्धि का प्रयत्न करते हैं।[२९] पर यदि विज्ञाता के विज्ञान की ही सत्ता है- तो इस विज्ञान से पृथक् अन्य जीव या उनके मन की सत्ता का कोई आधार नहीं बनता है। प्रकाशानन्द न केवल दृष्टिसृष्टिवाद के अहम्मात्रवादी परिणति को स्वीकार करते हैं अपितु इस अहम्मात्रवाद या एकजीववाद के एकमात्र उद्घोषक दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं। दर्शन के इतिहास में यह प्रकाशानन्द ही हैं जो एकजीववाद या अहम्मात्रवाद का इतना स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं।

अपने दृष्टिसृष्टिवाद व एकजीववाद के सिद्धान्त के द्वारा प्रकाशानन्द अद्वैतचिन्तन को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाते हैं। यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो सकल भेद व नानात्व आविद्यक ही हो सकता है, प्रातीतिक ही कहा जाएगा ।यदि एक मात्र अद्वितीय परमतत्त्व की ही सत्ता है तो सकल नानात्व- चाहे जड़ जगत् के रूप में प्रतीयमान हो या नाना जीवों के रूप में- मिथ्या ही हो सकता है। यदि एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो अनात्म किसी भी रूप में चाहे जड़ जगत् के रूप में या अन्य जीवों

के रूप में हो, स्वीकार्य नहीं हो सकता है। प्रकाशानन्द यदि एक जीववाद के प्रतिपादन के लिये अत्यधिक उत्सुक हैं तो इसे इस रूप में ही समझाना होगा कि उन्हें नानात्व व अनात्म की कथंचित् भी सत्ता स्वीकार नहीं है, यहाँ तक कि व्यावहारिक सत्ता भी नहीं। पुनश्च जैसा कि हम जानते हैं कि अद्वैत मत की अन्य दार्शनिक मतों से श्रेष्ठता का एक प्रमुख हेतु यह है कि यह एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमत्त्व की सत्ता की अभिकल्पना द्वारा ही समस्त जगत् की व्याख्या कर लेता है। लाघव का यह विलक्षण गुण अद्वैत को अन्य दर्शनों की अपेक्षा श्रेष्ठता प्रदान करता है। प्रकाशानन्द लाघव के इस तर्क का और विस्तार करते हैं। सृष्टिदृष्टिवाद, अनेक जीववाद व अनेक अज्ञानवाद जैसे सिद्धान्त अनावश्यक ही जगद् की व्याख्या के लिये ब्रह्म के अतिरिक्त, सर्वलोकप्रत्यक्ष एक वस्तुनिष्ठ जगत् व उसके स्रष्टा के रूप में ईश्वरतत्त्व, नानाविध जीवों तथा विभिन्न जीवों में स्थित नानाविध अज्ञान की कल्पना कर बैठते हैं, सत्ता के त्रिविध स्तरों-पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातीतिक की व्यवस्था करते हैं। दूसरी ओर प्रकाशानन्दकृत दृष्टिसृष्टिवाद में एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता की बात कही गयी, अज्ञानवश वही अपने को जीव के रूप में समझता है और सकल दृश्य जगत् की कल्पना करता है। जाहिर है इस मत में ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर, नाना जीवों तथा नाना अज्ञानों को मानने की कोई जरूरत नहीं होती। हम समझ सकते हैं कि एकजीववाद व एक अज्ञानवाद को पोषित करता हुआ प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद अद्वैतचिन्तन को लाघव पर आधारित एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें कम से कम तत्त्वों के अभ्युपगम से सत्ता की व्याख्या की गयी है।

इन तमाम अच्छाइयों के बावजूद दृष्टिसृष्टिवाद की अपनी अन्तर्निहित कमियाँ हैं । यह सही है कि अद्वैत के स्थापन में या कहिये कि नानात्व के निरसन में सृष्टिदृष्टिवाद की अपेक्षा यह सिद्धान्त एक कदम आगे बढ़ता है। सृष्टिदृष्टिवादी जहाँ नानात्व युक्त जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता को स्वीकार कर अद्वैत सिद्धान्त के परिपार्श्व में सृष्टि के रहस्यों को समझना चाहता है, दृष्टिसृष्टिवादी को द्वैत या नानात्व की किसी भी प्रकार की वस्तुनिष्ठ सत्ता स्वीकार्य नहीं है । दृष्टिसृष्टिवादी द्वैत या नानात्व की (या उससे युक्त जगत् एवं जागतिक वस्तुओं की) सत्ता को सिरे से खारिज करते हैं। कथित भेद या नानात्व की सत्ता प्रतीति या प्रतिभास मात्र में है। इस प्रतीति या प्रतिभास से इतर उसकी

किसी तरह की सत्ता नहीं है। पर प्रश्न उठता है कि द्वैत या नानात्व की वस्तुनिष्ठ सत्ता को खारिज करने के बावजूद दृष्टिसृष्टिवादी प्रतिभास के स्तर पर ही सही क्या इसकी सत्ता को स्वीकार नहीं कर लेते हैं? यदि द्वैत की सत्ता वस्तुतः न भी हो तो भी प्रतीति के स्तर पर तो वह रह ही जाती है। फिर अद्वैत कहाँ रहता है? वस्तुक्षेत्र में न सही कल्पना या मनस् के क्षेत्र में तो द्वैत यथावत बना रहता है। यदि नानात्व या जगत् के अस्तित्व को न स्वीकार कर उसकी प्रतीति, अनुभूति या ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं, यदि द्वैत को न स्वीकार कर द्वैत दर्शन या द्वैत- अनुभव को ही स्वीकार करते हैं, तो भी मूल अद्वैत सिद्धान्त को क्षति तथाविध ही पहुँचती है क्योंकि हम अद्वैत (आत्मतत्त्व) से भिन्न द्वैतानुभव को तो स्वीकार ही कर रहे हैं। अतः द्वैत के समान ही द्वैतदर्शन या द्वैत की प्रतीति को भी अन्ततः मिथ्या मानना होगा । रेवतीरमण पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द की मुख्य विशेषता इस बात में नहीं है कि वे दृष्टिसृष्टिवाद का प्रतिपादन करते हैं, बल्कि प्रो० पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द का वास्तविक महत्व इस बात में है कि अन्ततः वे इस सिद्धान्त से भी कि नानात्वयुक्त जगत् वस्तुतः ज्ञान मात्र है, परे हो जाते हैं, उसे भी खारिज कर देते हैं।[३०] नानात्वयुक्त जगत् की प्रतीति भी, द्रष्टा की आत्मनिष्ठ कल्पना भी अन्ततः अध्यस्त मात्र है। द्वैत की प्रतीति या अनुभव भी अन्ततः उतना ही असत् या तुच्छ है जितना द्वैतयुक्त जगत्। नानाविध जगद्प्रपञ्चों को सष्ट करने वाली दृष्टि दृष्टि का वास्तविक स्वरूप नहीं है । दृष्टि या ख्याति वस्तुतः निष्प्रकारिका है, शुद्ध चेतना है जो कि आत्मा का तात्त्विक स्वरूप है, इसका नानाविध आकारों में, द्वैत या नानात्व के रूप में भान वस्तुतः मिथ्या है। शुद्ध चेतना सारे विकल्पों के दूषण से सर्वथा मुक्त है। इस निर्विकल्पक अद्वितीय चेतना की ही पारमार्थिक सत्ता है, इससे अलग नानाविध वस्तु-आकारों के रूप में जो चेतना की प्रतीति होती है-द्वैत की अनुभूति होती है- वह नितान्त मिथ्या है, असत् है, अलीक है। वस्तुतः स्वयंप्रकाश चितूतत्त्व के अतिरिक्त किसी की कोई सत्ता नहीं है- न व्यावहारिक और न ही प्रातीतिक। कथित द्वैत या उसकी प्रतीति बराबर ही असत् हैं, अलीक हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि परम्परा में बहुत से आचार्य यह कहना चाहेंगे कि यह द्वैत या द्वैत की प्रतीति, उसका प्रतिभास परमार्थतः 'मिथ्या' या 'अनिर्वचनीय' है, प्रकाशानन्द का कहना है कि यह मिथ्यात्व या अनिर्वचनीयत्व उसका

त्रैकालिक असत्त्व है। इस त्रैकालिक असत्त्वत्व से भिन्न किसी भी प्रकार की सत्ता न तो 'द्वैत' की है और न ही 'द्वैताभास' की। अतः द्वैताभास या द्वैत की प्रतीति निरपेक्षतः उतना ही असत् है, तुच्छ है जितना द्वैत युक्त जगत्। परमार्थतः किसी भी प्रकार की भ्रान्त प्रतीति के लिये कोई अवकाश नहीं है, उसका त्रैकालिक अभाव है। अब यदि हम चीजों को इस प्रकार देखते हैं तो समझ सकते हैं कि भ्रामिक प्रतीति, प्रतिभास या विवर्त के अद्वैतप्रोक्त सिद्धान्त की जिसकी अभी तक दृष्टिसृष्टिवादी ढंग से व्याख्या की जा रही थी का कोई महत्व नहीं रह जाता और अन्त में उसे भी खारिज कर दिया जाता है। प्रकाशानन्द कहते हैं कि उपनिषद् का चरम प्रयोजन विवर्तवाद का प्रतिपादन नहीं है, यह तो केवल बालों को अद्वैत की ओर ले जाने का कदम है। केवल बालों के लिये, मन्दबुद्धि साधकों के लिये यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, सुधीजन तो इसे अविवर्तित आनन्द के रूप में पाते हैं-

बालान् प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।
अविवर्त्तितमानन्दमास्थितः कृतिनः सदा।।[३१]

अब यदि चेतना की नानात्वयुक्तजगत् के रूप में भ्रामिक अभिव्यक्ति भी अत्यन्त असत् है, यदि जगत् या नानात्व की प्रतीति वस्तुतः नितान्त असत् है तो अज्ञान या अविद्या का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। हम समझ सकते हैं परमार्थतः अविद्या अविद्यमान है, तुच्छ है। एवंभूत प्रकाशानन्द जगत्-अनुभव का जो विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं उसमें सकल नानात्वयुक्त जगत्, उसकी प्रतीति अथवा ज्ञान तथा इनका कारणभूत अज्ञान अन्ततः नितान्त असत् (अलीक), तुच्छ सिद्ध होते हैं। वस्तुतः एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की हमेशा से सत्ता है जो अपने अविवर्तित आनन्द स्वरूप में विद्यमान है। रेवतीरमण पाण्डेय प्रकाशानन्द के व्याज से ब्रह्म के इस अविवर्तित आनन्द स्वरूप और तद्भिन्न सकल के तुच्छत्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं ।

अब यदि सकल भेद तुच्छ है तथा ब्रह्म सर्वदा अपने अविवर्तित स्वरूप में विद्यमान रहता है तो हम देख सकते हैं कि तत्त्वतः न तो किसी की उत्पत्ति होती है और न उसका निरोध होता है, न बन्धन होता है और न मुक्ति। न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। तत्त्व सदा असंग एक रस विद्यमान होता है। जो न कभी उत्पन्न होता है, न

नष्ट होता है, जिसमें जन्म मृत्यु का कोई अवकाश ही नहीं, उस अज का ही एकमात्र अस्तित्व है। वह कैसे अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथाभाव धारण कर सकता है? अतः न तो तात्त्विक और न अतात्त्विक ही अन्यथाप्रथा संभव है। परिणाम व विवर्त दोनों असम्भव है। अजातवाद का ही सिद्धान्त अद्वैतियों का मुख्य सिद्धान्त है। सृष्टिदृष्टिवाद की ही तरह दृष्टिसृष्टिवाद का भी अन्ततः आभिप्रायिक ही महत्व है। अजातवाद ही अद्वैतियों का मुख्य प्रतिपाद्य है। रेवतीरमण पाण्डेय ने अपने अध्ययन के क्रम में यह सिद्ध किया है कि यद्यपि मुक्तावलीकार दृष्टिसृष्टिवाद के प्रणेता के रूप में माने जाते हैं, पर अन्ततः यह उनके द्वारा प्रयुक्त प्रविधि मात्र है जिससे अद्वैतनिष्ठा उत्तरोतर प्रबल होती है। या दूसरे दृष्टि से कहें तो दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त मुक्तावलीकार का पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है। यहाँ ध्यातव्य है कि इस पर परपक्षियों को भी आपत्ति नहीं होगी क्योंकि कोई भी अद्वैती सृष्टिविषयक सिद्धान्त को अद्वैत के मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में नहीं लेता। प्रकाशानन्द की खासियत यह है कि वे इस सिद्धान्त के उपस्थापन द्वारा पहले तो यह सिद्ध करते हैं कि यावत् दृश्यमान नानात्व रूप सकल जगत् प्रतीति मात्र है। प्रतीति के परे या इतर इसकी कोई सत्ता नहीं है। परिणामतः (एवं प्रकारेण) अद्वैतोपस्थापन में सबसे प्रबलतम बाधक के रूप में अवस्थित देशकालावच्छिन्नस्तुजगत् को उसकी प्रतीति में विघटित कर प्रकाशानन्द चुटकी में इस द्वैत/भेद/प्रपञ्च का उपशमन कर देते हैं। अतः सर्वसाधारण प्रसिद्ध किसी बाह्यजगत् की सत्ता वस्तुतः नहीं है । यावत् नानात्व अज्ञानवश हमें प्रतीत होता है। अब इस पर कहा जा सकता है कि प्रातीतिक ही सही नानात्व की अनुभूति को, इसकी प्रतीति को नकारा नहीं जा सकता। इस पर प्रकाशानन्द का कहना है कि यह नानात्व की प्रतीति भी वस्तुतः मिथ्या है, अनिर्वचनीय है। वस्तुतत्त्व तो निर्विभाग चैतन्य रूप है, सत्ता तो सकल भेदों से अतीत, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य विभाग से परे निर्लिप्त व निर्विशिष्ट चेतना की है, दृष्टि की है, इसमें नानात्व युक्त जगत् की प्रतीति सर्वथा मिथ्या ही हो सकती है, सत्य नहीं। फलतः जगत् की प्रतीति भी नितान्त मिथ्या है, अनिर्वचनीय है, असत् है, तुच्छ है। अब यदि ऐसा है तो दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त भी वस्तुतः एक सीढ़ी ही है। प्रकाशानन्द अन्ततः इसको भी खारिज कर देते हैं । वस्तुतः देखा जाए तो इसमें कोई बहुत आश्चर्य करने की बात भी नहीं है। यह सही है कि अद्वैती

अपने ब्रह्मवाद की सिद्धि के लिये मायावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पर इस 'माया' का परमार्थतः अद्वैत-सरणि में क्या स्थान बनता है- परम्परा इसको लेकर पूरी तरह से एकमत है। विद्यारण्य पंचदशी में कहते हैं-

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[३२]

माया वस्तुतः ज्ञानियों के लिये तुच्छ ही है । विद्यारण्य की उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करते हुए प्रकाशानन्द कहते हैं कि देशकालावच्छिन्न सर्वप्रतीतिगोचरजगत् परमार्थतः तुच्छ ही है। यह सकल जगत् जीव के अज्ञान द्वारा कल्पित है, और अज्ञान वस्तुतः नितान्त असत् है, तुच्छ है जैसा कि विवरणकार द्वारा प्रस्तुत अद्वैत सम्मत मिथ्यात्व के लक्षण ''**प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्**'' से प्रतिपादित होता है।[३३] एवंभूत हम देखते हैं कि प्रकाशानन्द पहले तो सकल जगत् और नानात्व को विवर्त या प्रातीतिक सिद्ध करते हैं। बाद में यह बताते हैं कि किसी प्रकार के आभास या विवर्त का भी अद्वैत में कोई स्थान नहीं है। जैसा की पीछे हमने देखा था, प्रकाशानन्द कहते हैं कि मन्दबुद्धि बालकों के लिये ही यह सिद्धान्त है कि यह सकल जगत ब्रह्म का विवर्त है। मन्दबुद्धि बालक ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त समझते हैं, सच तो यह है कि एक अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप परमसत् सर्वदा अविवर्तित रूप से यथातथ बना रहता है। अतः नानात्व की न तो परमार्थतः, न ही व्यावहारिक सत्ता के रूप में और अन्त में न ही प्रतिभास के रूप में सत्ता स्वीकार की जा सकती है। वस्तुतः वह नितान्त तुच्छ है, असत् है।

अद्वैत की बृहद् परम्परा का इतिहास भेद या नानात्व के निरसन का इतिहास है। अद्वेतेतर परम्परा में इस भेद या नानात्व को पारमार्थिक महत्व दिया गया है। न्याय-वैशेषिक, माध्व वेदान्तादि दर्शनों में भेद को पारमार्थिक रूप से सत्य बताया गया है। शङ्कर मिश्र 'भेदरत्नम्' में भेद को सत्य सिद्ध करने के लिये अत्यधिक आतुर दिखते हैं तो मध्वाचार्य पाँच प्रकार के भेदों को नित्यसिद्ध बताते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की ही सत्ता मानने वाले अद्वैती आचार्यों को नानात्व की सत्ता स्वीकार नहीं है। पर प्रश्न उठता है कि यदि एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमतत्त्व की ही

सत्ता है तो सकल लोक प्रसिद्ध नानात्वयुक्त जगत् की प्रतीति की व्याख्या कैसे होगी? जगत् की इस प्रतीति को स्वप्नवद् कहकर झुठलाया नहीं जा सकता है क्योंकि स्वप्न से जाग्रत का अन्तर नितराँ सुस्पष्ट है। स्वाप्निक जगत् का न केवल बाध होता है बल्कि यह नितान्त व्यक्तिगत होता है, जबकि जाग्रत विश्व का न तो बाध होते हुए देखा जाता है और न हीं यह व्यष्टि तक सीमित होता है। जाग्रतकालीन जगत् एक समष्टिगत जगत् होता है जो देशकाल-कार्यकारणादि नियमों से नियन्त्रित होता है। उपर्युक्त कारणों से सृष्टिदृष्टिवाद समेत अद्वैत की एक प्रबल परम्परा सत्ता के त्रिविध स्तरों की अभिकल्पना करती है और भेद व नानात्व को व्यावहारिकतया सत्य बताती है। भेद अब पारमार्थिक नहीं रहा, पर व्यावहारिक बना रहता है। प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में भेद के इस व्यावहारिक सत्त्व का भी जमकर खण्डन करते हैं। यदि एक अद्वितीय अत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो तद्भिन्न यावत् नानात्व या भेद आविद्यक होने के कारण प्रातीतिक ही हो सकता है। परिणामतः सत्ता का द्विविध रूप ही बनता है-पारमार्थिक और प्रातिभासिक। सकल भेद और नानात्व प्रतिभास मात्र है। पर जैसा कि प्रो० पाण्डेय दिखाते हैं, भेद निरसन के अंतिम चरण में वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार को यह भी स्वीकार्य नहीं है कि भेद को प्रातीतिक भी सत्ता दी जाय, इसलिये अन्ततः वे उसे नितान्त असत् या तुच्छ बताते हैं। हम समझ सकते हैं कि भेद निरसन की जो यात्रा सृष्टिदृष्टिवादियों के नेतृत्व में सत्तात्रैविध यवादियों द्वारा भेद को परमार्थ से अपदस्थ कर व्यवहार मात्र में ही सीमित करने आरम्भ हुयी थी उसका चरम पर्यवसान मुक्तावलीकार के इस अजातवादी शंखनाद में होता है कि सकल भेद नितान्त अलीक हैं, तुच्छ हैं। और तभी हम समझते हैं कि सृष्टिदृष्टिवाद, दृष्टिसृष्टिवाद व अजातवाद में क्रमशः उत्तरोत्तर का अद्वैतदृष्टया कितना महत्व है। सृष्टिवाद जहाँ भेद को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करता है, दृष्टिसृष्टिवाद उसे प्रातिभासिक कहता है, अजातवादियों के लिये तो भेद की न तो व्यावहारिक और न ही प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार्य है। सकल भेद नितान्त तुच्छ है, अलीक है, असत् है।

एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न सकल नानात्व रूप प्रपञ्च के मिथ्यात्व को सारे अद्वैती स्वीकार करते हैं। परम्परा में इस मिथ्यात्व के स्वरूप को लेकर गहन मन्थन हुआ है तथा आचार्यों में इसको लेकर मतभेद भी दिखाई पड़ता है। जैसा कि पीछे हम

लोगों ने देखा वेदान्तसिद्धान्तामुक्तावलीकार जहाँ एक ओर जगत् को मिथ्या व अनिर्वचनीय बताते हैं तो वहीं दूसरी ओर इसे नितान्त तुच्छ व असत् भी घोषित करते हैं। जाहिर है प्रकाशानन्द का मत उस पारम्परिक मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है जिसके अनुसार मिथ्यात्व का अर्थ सदसदनिर्वचनीयत्व समझा जाता है। ध्यातव्य है कि पंचपादिकाकार मिथ्यात्व को सद्, असद्, सदसदुभय से विलक्षण बताते हैं- **मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्यते**। चूँकि जगत् की त्रिकालाबाधित सत्ता नहीं है अतः वह सत् नहीं है, तथा चूँकि उसकी प्रतीति होती है अतः वह खपुष्प के समान असत् नहीं है। फलतः सत्, असत् तथा सदसत् उभय रूप से निर्वचनीय न होने के कारण वह अनिर्वचनीय है। यह अनिर्वचनीयत्व या मिथ्यात्व तुच्छत्व नहीं है। दूसरी ओर प्रकाशान्द के अनुसार जैसा कि पाण्डेय का कहना है, मिथ्यात्व से आशय जगत् प्रपञ्च के त्रैकालिक असत्त्व से ही है। चूँकि यावत् नानात्व की प्रतीति जिस अधिष्ठान में होती है वहीं उसका त्रैकालिक अभाव है अतः जगद् आदि सकल प्रपञ्च वस्तुतः तुच्छ हैं, अलीक हैं। पाण्डेय का मन्तव्य है कि प्रकाशानन्द कृत मिथ्यात्व निरूपण विवरणकार प्रकाशात्मन् के मत का अनुसरण करता प्रतीत होता है। जिसके अनुसार प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगित्व ही मिथ्या है- प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। नानात्व की प्रतीति जिस अधिष्ठान में होती है वहीं उसका त्रैकालिक निषेध होता है। अब वस्तुएँ यदि स्वाधिष्ठान में ही नहीं हैं तो अन्यत्र भला कहाँ होगीं? अस्तु, सकल वस्तुजगत् का त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व या अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व आपादित होता है। प्रकाशानन्द पूछते हैं- **किमिदं मिथ्यात्वं त्रैकालिकासत्वम्? असत्त्वाविशेषेऽपि कदाचित्प्रतीयमानत्वं वा? नाद्यः, इष्टापत्तेः। न द्वितीयः, तत्प्रतीत्यैवाद्वैतक्षतेस्तादवस्थात्**।[३४] यदि जगत् को तुच्छत्व से भिन्न कथंचित भी सत्त्व दिया जाए, उसकी प्रातीतिक भी सत्ता मानी जाए तो अद्वैत को क्षति बराबर ही पहुँचती है। इसीलिये वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली मिथ्यात्व को '**त्रैकालिक असत्त्वम्**' के रूप में ही परिभाषित करना चाहते हैं।

अब यदि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार के और विशेषतः रेवतीरमणपाण्डेयकृत इसकी व्याख्या के आलोक में प्रकाशात्मन् कृत मिथ्यात्व के लक्षण का स्वारस्य नानात्व के अत्यन्त असत्त्वत्व के रूप में लिया जाए तो अद्वैत परम्परा में 'मिथ्यात्व' निरूपण को

लेकर कुछ नए सन्दर्श उद्घाटित होते हैं। सत् असत् से अनिर्वचनीय रूप में मिथ्यात्व को वे ही परिभाषित कर सकते हैं जो व्यावहारिक या कदाचित् प्रातीतिक सत्ता को मानते हैं। वस्तुतः सत्तात्रैविध्यवादियों व सृष्टिदृष्टिवादियों के मत में ही ''**सदसद्विलक्षणत्व रूप मिथ्यात्व**'' के लक्षण की (ठीक से) उपपत्ति होती है। प्रातीतिक सत्ता के आग्रही दृष्टिसृष्टिवादियों के लिए आनन्दबोधभट्टारक अनुमत ''**सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्**'' लक्षण उपयुक्त होगा। जहाँ तक अजातवादियों की बात है तो सकल जगत् के परमार्थतः तुच्छ होने के कारण उनके अनुसार '**अत्यन्तासत्त्वं मिथ्यात्वम्**' या **'त्रैकालिकासत्त्वं मिथ्यात्वम्**' ही मिथ्यात्व का उपयुक्त लक्षण हो सकता है। प्रकाशात्मन् कृत मिथ्यात्व लक्षण '**प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध- प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्**' या कहिये कि चित्सुखाचार्य सम्मत मिथ्यात्व-लक्षण '**स्वाश्रया- निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्**' का स्वारस्य इन्हीं अजातवादियों के साथ है, ऐसा समझा जा सकता है ।[३५]

अद्वैत परम्परा का इतिहास मात्र बौद्धिक चिन्तन या तर्क का इतिहास न हो आत्मानुभूति की गहन साधना का इतिहास है। इतिहास के विकासक्रम में परम्परा में साधना की विभिन्न भूमियों के अनुरूप नाना प्रकार के ग्रन्थ निलिखे गये, विभिन्न मतवादों की स्थापना हुयी। परम्परा के सम्यक् अर्थबोध के लिये हमें यह देखना होगा कि कौन से सिद्धान्त या कौन से ग्रन्थ साधना की किस भूमि को ध्यान में रखकर पुरस्कृत हुए। कहा जा सकता है कि सृष्टिदृष्टिवाद व सत्तात्रैविध्यवाद जैसे सिद्धान्त साधना की आरम्भिक अवस्था में स्थित लोगों के लिये प्रवृत्त हुए थे। इस अवस्था पर जगत् की व्यावहारिक सत्ता को अक्षुण्ण रखा गया तथा इस बात को सिद्ध करने की सायास चेष्टा की गयी कि एक अद्वितीय परमत्त्व की सत्ता को मानने के बावजूद ईश्वर -ईशितव्य, भोक्ता-भोग्य व्यवस्था अन्य दर्शनों की ही तरह यथावत् उपपन्न होती है।[३६] दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त मध्यम कोटि के साधकों के लिये प्रवृत्त हुआ प्रतीत होता है जिनके अनुसार एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न सकल भेद प्रपञ्च की प्रातीतिक ही सत्ता है। यावत् द्वैत प्रपञ्च चित्त का प्रसार मात्र है, दृष्टि से परे इसकी कोई सत्ता नहीं है। साधना की अत्युच्च अवस्था वाले लोगों के लिये तो द्वैत का कथंचित् भी सत्त्व स्वीकार्य नहीं है। भेद की न तो व्यावहारिक ही सत्ता है और न प्रातिभासिक ही। सकल नानात्व युक्त जगत् तुच्छ मात्र

है। परमार्थतः न तो किसी चीज की उत्पत्ति होती है और न निरोध, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। अजातवाद ही साधकों का उत्तमोत्तम सिद्धान्त है।[३७] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली साधना की इसी अत्युच्च अवस्था का ग्रन्थ है जिसमें जहाँ एक ओर जगत् की तुच्छता को बार-बार रूपायित किया गया है तो वहीं साथ ही परमत्त्व के अविवर्तित आनन्द स्वरूप का पुनश्च पुनः गान हुआ है।[३८] अजातवाद जगत् के तुच्छत्व मात्र का सिद्धान्त नहीं है। यदि ऐसा होता तो पिर माध्यमिक शून्यवाद से अद्वैती की क्या विशेषता? जगत् की तुच्छता का सिद्धान्त भी अन्ततः साभिप्रायिक ही है। मुक्तावलीकार यदि जगत् की तुच्छता को प्रदर्शित करने के लिये अत्यधिक आतुर खिते हैं तो इसके पीछे उनका उद्देश्य मात्र यह दिखाना है कि सकल नानात्वयुक्त जगत् के असत् सिद्ध होने से जहाँ एक ओर द्वैत को कथंचित् भी स्थान नहीं प्राप्त होता है और फलतः अद्वैत की पूर्ण सिद्धि होती है वहीं साथ ही दूसरी ओर सकल द्वैत के असत् होने से यह भी निगमित होता है कि वह अद्वैत सत्ता अपने निष्कलुष शुद्ध रूप में अर्थात् चिदानन्द स्वरूप में नित्य विद्यमान है। प्रकाशानन्द के अनुसार आत्मा का न केवल स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप नित्य प्रकाशित है अपितु उसका आनन्द रूप भी तथाविध नित्य भासमान है, तभी तो आत्मा की प्रतीति परमप्रेमास्पद रूप में होती है। यह जो कहा जाता है कि संसार दशा में प्रतिबन्ध के कारण पूर्ण आनन्द स्वरूप का भान नहीं हो पाता, वह उचित नहीं है। हम देख चुके हैं कि किस तरह सकल अज्ञान अन्तः तुच्छ है, असत् है; फलतः समस्त प्रतिबन्धों के असत् कल्प होने से संसार दशा में भी अप्रतिबन्धित ही आनन्द स्थित रहता है। आत्मा की इस नित्य आनन्दरूपता का प्रतिपादन ही अद्वैतप्रोक्त अजातवाद का मुख्य तात्पर्य है। प्रकाशानन्द अपने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली तथा श्रद्धेय गुरुवर प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय मुक्तावली की अपनी व्याख्या में आत्मा के इस नित्यभासमान आनन्दस्वरूप की ओर हमारा बार-बार ध्यान आकृष्ट करते हैं।[३९]

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. रमाकान्त त्रिपाठी, **प्रॉब्लम्स ऑफ फिलासफी एण्ड रेलिजन**, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७१, पृ० ३

२. देखें, वहीं, पृ० १२८-१३६

३. त्रिपाठी का आशय है कि जहाँ माध्यमिक सत्ता के द्विविध स्तर-पारमार्थिक और सांव्यावहारिक-को स्वीकार करते हैं, वहीं अद्वैती सत्ता के त्रिविध स्तरों-पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक को स्वीकार कर मिथ्यात्व की व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से करने में सक्षम होते हैं । देखें, रमाकान्त त्रिपाठी, ''नागार्जुन और शङ्कर?'', **प्रॉब्लम्स ऑफ फिलासफी एण्ड रेलिजन,** पृ० १२६

४. रेवतीरमण पाण्डेय, ''सम फन्डामेण्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट-शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली'', **साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त**, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, १६६१, पृ० १०५-१३६ । पाण्डेय का यह लेख मूल में डब्ल्यू०जेड० के० एस०, अंक २०, वियना, १६७६ में प्रकाशित हुआ था ।

५. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेक कर्तृभोक्तसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल- निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेति...न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। शङ्कराचार्य, **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, १/१/२

६. द्रष्टव्य, शङ्कराचार्य, **श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य**, ६/११, ६/१६ तथा ३/१

७. अद्वितीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवद् आत्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीय- मुपादानकारणमुपादत्ते। किं तर्हि? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयते। शङ्कराचार्य, **श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य**, ३/२

८. सर्वप्राणिगतानि चक्षूँसि अस्येति विश्वतश्चक्षुः अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र रूपादौ सामर्थ्यं विद्यते...। वहीं, ३/३
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वः...। वहीं, ३/४

९. द्रष्टव्य, शङ्कराचार्य, **ब्रह्मसूत्रभाष्य,** १/१/५-११

१०. शङ्कराचार्य, **छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य**, ६/१/४-६

११. शङ्कराचार्य, **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, १/४/१४

१२. न हि अयं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपादयिषितः। न हि तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते, श्रूयते वा । न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्।
देखें, वहीं ।

१३. गौडपाद, **माण्डूक्यकारिका**, ३/१५

१४. तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्धयवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः। अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन।
शङ्कराचार्य, **माण्डूक्यकारिकाभाष्य**, ३/१५

१५. तस्मात् स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः।
मायेयं स्वप्नवद् भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी।। **योगवाशिष्ठ** ६/१६५/४४
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम्।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः।। **योगवाशिष्ठ** ६/३३/४५

१६. दृष्टिसृष्टिवाद सहित सृष्टिसम्बन्धी विभिन्न अद्वैत मतों के लिये देखें, उर्मिला शर्मा, **अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान**, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी १९७८, पष्ठ० १९६-२२८

१७. प्रकाशानन्द, **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, सं० आर्थर वेनिस, चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली, २००८, पृ०३५

१८. सत्त्वत्रयं वदन् वादी प्रष्टव्योऽत्राधुना मया।
सत्यं द्वैतमसत्यं वा नाऽसत्ये विविधं कुतः।।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका-११

१९. रेवतीरमण पाण्डेय (१९९१), पष्ठ० १२२

२०. सर्वस्यद्वैतस्य प्रातीतिकसत्त्वमपरित्यज्य तैभ्रान्तसन्तोषमात्रस्य कृतत्वात् प्रातीति- कत्वेऽपि प्रपञ्चस्य भ्रान्तबुद्धि- सिद्धावान्तरवैषम्याश्रित्य व्यावहारिक सत्त्वाभिधाना- विरोधात्। **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, पृ० २८

२१. देखें, अप्पय दीक्षित कृत **सिद्धान्तलेशसंग्रह** तथा उस पर अनुवादक मूलशङ्करव्यास की टिप्पणी, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, २००५, पृ० ३५८-३५९ । साथ ही देखें,
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ११७
रेवतीरमणपाण्डेय (१९९१), पृ० १२३

२२. अयमेको दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः। अन्यस्तु दृष्टिरेव विश्वसृष्टिः । दृश्यस्य दृष्टिभेदे प्रमाणाभावात्। 'ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्वि- चक्षणाः। अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः।।' इति स्मृतेश्चेति सिद्धान्तमुक्तावल्यादिदर्शितो दृष्टिसृष्टिवादः।
अप्पय दीक्षित, **सिद्धान्तलेशसंग्रह** मूलशङ्कर व्यास रचित अनुवाद सहित, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, २००५, पृ० ३६१-२ ।

२३. इस मत में यह संभावना शेष रहती है कि ज्ञान से पृथक् वस्तुओं का अस्तित्व है पर इसका बोध ज्ञान के दौरान होता है अथवा यह कि वस्तुओं का और ज्ञान का समकालीन उद्भव होता है। अब यदि ऐसा है तो दृष्टि की ही सत्ता नहीं बनती है, दृष्टि से इतर उसके विषय की सत्ता की संभावना भी बनी रहती है।

२४. प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च भेदः प्रामाणिकः कुतः।
प्रतीतिमात्रमेवैतद्भाति विश्वं चराचरम्।।
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत् तथा जाग्रच्चराचरम्।।
आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः।।
पूर्णानन्दाद्वये शुद्धे पाप्मदोषादिवर्जिते।
प्रतिबिम्बमिवाभाति दृष्टिमात्रं जगत्त्रयम्।।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका १८, १९, २२, २३

२५. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका ५६

२६. अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रकाशानन्द के अतिरिक्त अन्य दूसरे आचार्यों ने भी एकजीववाद का समर्थन किया है। पर प्रकाशानन्द से भिन्न दूसरे आचार्यों ने जो एकजीववाद का समर्थन किया है- यथा संक्षेपशारीरककार, न्यायमकरन्दकार, न्यायरत्नदीपावलिकार, नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती

या चित्सुखाचार्य- उनमें दोष यह है कि ये आचार्य जीव पद के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में व्यामिश्र पैदाकर अपनी युक्तियाँ देते हैं । जीवैकत्व हेतु प्रस्तुत उनकी युक्तियों का आधार जीव का लक्ष्यार्थ है । पर जीव के लक्ष्यार्थ को लेकर भला कौन अद्वैती नानात्व की बात करेगा ? समस्या जीव के वाच्यार्थ को लेकर है, देहेन्द्रियसंघात से युक्त कर्त्ता भोक्ता रूप जो चेतन संसारी है, वह एक है अथवा अनेक ? प्रकाशानन्द की खासियत यह है कि वे जीव के इस वाच्यार्थ को लेकर इस मत का समर्थन करते हैं कि वह जीव एक है । प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में एकजीववाद निरूपण के क्रम में श्वेताश्वतर उपनिषद् के ''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्यः ।। श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/५'' श्रुतिवाक्य की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करते यह प्रतिपादित करते हैं कि अविद्या एक है, तदुपहित चैतन्य जीव भी एक ही है । हाँ, इस जीव का एक अविद्याबद्ध रूप है तथा एक उससे असम्पृक्त, अनुपहित । यदि यह कहा जाए कि जीव के एक होने पर बन्धमोक्ष व्यवस्था कैसे बनेगी तो इस पर प्रकाशानन्द का कहना है कि इसकी भी उपपत्ति स्वप्नवद् करनी चाहिए।

बन्धमोक्षव्यवस्था स्याज्जीवाभेदे कथं तव ।
यथा दष्टं तथैवास्तु दृष्टत्वात्स्वप्नदृष्टवत् ।।

देखें, **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, पष्० १६-१८

२७. एक एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषन्मात्रगम्यो वस्तुतोऽस्ति। स एवाज्ञानमाश्रित्य जीवभावं लब्ध्वा देवतिर्यङ्मनुष्यादि देहान् परिकल्प्य तदुप- करणत्वेन ब्रह्माण्डादिचतुर्दशभुवनं सृष्ट्वा तेषु तेषु देहेषु कश्चिद्देवः कश्चिन्मनुष्यः कश्चिद् हिरण्यगर्भः सर्वेषां स्रष्टा कश्चिद्विष्णुः पालकः कश्चिदन्यः सर्वसंहारकर्त्ता रुद्रः प्रलये। ...एवं सति एक एवात्मा परिपूर्णः स्वयं प्रकाशानन्दैकस्वभावः स्वाज्ञानवशाज्जीवः संसारीत्यादि शब्दाभिधेयो भवति। न तदन्य कश्चित् संसारी संभावयितुमपि शक्य इति स्थितम्। **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, पृ० २३-२४

२८. ए०के० चटर्जी के अनुसार प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद ब्राह्मण परम्परा का एकमात्र विज्ञानवादी दर्शन है। यहाँ ध्यातव्य है कि भारत में विज्ञानवादी चिन्तन के आद्य प्रवर्तक बौद्ध दार्शनिक माने जाते हैं । योगाचार सम्प्रदाय में आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है जो विज्ञान को ही एकमात्र परमसत् मानती है तथा सकल बाह्य जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या घोषित करती है । जाहिर है प्रकाशानन्द का मत जैसा कि पाण्डेय कहते हैं, सहज ही इन बौद्ध विज्ञानवादियों की याद दिलाता है जिनके अनुसार सब कुछ विज्ञप्ति मात्र है, चित्त मात्र है । पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द को बौद्ध विज्ञानवाद से जोड़ने वाली कड़ी योगवाशिष्ठ है जिसका वे बार-बार उद्धरण देते हैं । एक अन्य सन्दर्भ में पाण्डेय गौडपादाचार्य का उल्लेख करते हैं जिन पर उनके अनुसार महायान का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है और जिनका प्रभाव मुक्तावली में यत्र-तत्र महसूस किया जा सकता है। वास्तव में गौडपादाचार्य और योगवाशिष्ठकार ये दो ऐसे आचार्य हैं जिनका सन्दर्भ प्रकाशानन्द बार-बार बड़े ही श्रद्धा के साथ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में देते हैं। हम कह सकते हैं कि बौद्ध विज्ञानवादियों और शून्यवादियों का जो प्रभाव गौडपाद या योगवाशिष्ठकार के उपर दिखाई पड़ता है, वही प्रकाशानन्द में एक बार पुनः परिलक्षित होता है। प्रकाशानन्द गौडपाद व योगवाशिष्ठकार की परम्परा का पुनर्स्थापन करते हैं ।

चटर्जी के अनुसार प्रकाशानन्द का विज्ञानवाद आत्मनिष्ठविज्ञानवाद है । चटर्जी की ही तरह पाण्डेय भी वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली को आत्मनिष्ठविज्ञानवादी दर्शन की पष्ठभूमि में देखने की वकालत

करते हैं । उनके अनुसार प्रकाशानन्द जब स्वयं के मत का उद्घोष करते हैं तो एक आत्मनिष्ठविज्ञानवादी की ही तरह प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार जगत् उसके ज्ञान से पृथक् नहीं है। बौद्धविज्ञानवादियों और दृष्टिसृष्टिवादियों में महत्वपूर्ण समानता होने के बावजूद चटर्जी का कहना है कि जहाँ बौद्ध विज्ञानवादी के अनुसार विषय-जगत् चित् का वास्तविक परिणमन है वहीं दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार यह परिणमन वास्तविक न होकर कल्पित और भ्रामिक है। कहा जा सकता है दृष्टिसृष्टिवाद भी अन्ततः प्रतीतिगोचर-प्रपञ्च की व्याख्या के लिए प्रस्तुत एक आभिप्रायिक या कामचलाऊ सिद्धान्त मात्र है। परमार्थतः यह भी मिथ्या है। दूसरी ओर बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानवाद एक आभिप्रायिक सिद्धान्त मात्र न होकर पारमार्थिक सिद्धान्त है। पर क्या विज्ञानवाद वस्तुतः योगाचार का अनन्तिम सिद्धान्त है? स्वयं चटर्जी के अनुसार योगाचार विज्ञानवाद भी अन्ततः परमनिरपेक्षवादी सिद्धान्त ही है, विज्ञेय के तिरोधान के पश्चात् विज्ञान विज्ञान न रहकर विज्ञेय-विज्ञान से परे शुद्ध चित् मात्र रह जाता है। बौद्ध-विज्ञानवाद के विस्तृत प्रतिपादन के लिये देखें ए०के० चटर्जी, **योगाचार आइडियलिज्म**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८७

२९. बौद्ध विज्ञानवाद में 'अन्य मनस्' के अस्तित्व को लेकर एक द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। धर्मकीर्ति जहाँ एक ओर विज्ञानवादी दर्शन की परिधि में **सन्तानान्तरसिद्धि** की बात करते हैं और इस तरह अहम्मात्रवाद की संभावना मात्र का निरास करते हैं तो दूसरी ओर रत्नकीर्ति **सन्तानान्तर-दूषण** में अन्य-मनस् की सत्ता को सिरे से खारिज करते हैं। प्रस्तुत लेखक के मत में वसुबन्धु की **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** का स्वारस्य धर्मकीर्ति की अपेक्षा रत्नकीर्ति के साथ है।

३०. रेवतीरमण पाण्डेय (१९९१), पृ० १२७-१२९

३१. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० १७२

३२. विद्यारण्य, **पञ्चदशी**, ६/१३०
प्रकाशानन्द आश्चर्य रूप से विद्यारण्य की इस बहु-पठित कारिका को गौडपादकृत (तुदक्तं गौडैः) बताते हैं। देखें, **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, पृ० १७८

३३. मिथ्यात्व का यह लक्षण वस्तुतः विवरणकार द्वारा प्रस्तुत लक्षण का मधुसूदन सरस्वती कृत अनुवाद है विवरणकार का मूल लक्षण है- प्रतिपन्नोपाधावभाव- प्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं नाम ।

३४. **वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली**, पृ० १७१

३५. विभिन्न मिथ्यात्व-लक्षणों को यहाँ मधुसूदन सरस्वती द्वारा अनूदित स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ चित्सुख का लक्षण जैसा कि मधुसूदन सरस्वती प्रस्तुत करते हैं 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्' न होकर मूल में ''सर्वेषामपि भावनां स्वाश्रयत्वेन सम्मते। प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मा।'' है ।

३६. शङ्कराचार्य **ब्रह्मसूत्र** २/१/३ के भाष्य में यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि अद्वैत में भी यावत् व्यवहार यथावत् बनेगा- परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽपि उपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरंगादिन्यायेनेत्युक्तम्। आगे ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'' **ब्र०सू०** २/१/१४ के भाष्य में कहते हैं-सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोकवत्' इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति- सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ।

३७. एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते । **माण्डूक्यकारिका**, ४/७१

३८. रेवतीरमणपाण्डेय अपने लेख में अनेकशः इस बात को रेखांकित करते हैं कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली रहस्यात्मक आनन्दानुभूति की चरमावस्था का ग्रन्थ है। इस सन्दर्भ में पाण्डेय विशेषकर वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली की कारिका संख्या ४४ से ५५ का उल्लेख करते हैं। पाण्डेय के अनुसार इन कारिकाओं के पारायण से पाठकों को यह अनुभूति हुए बिना नहीं रह सकती कि इन पंक्तियों का लेखक साधना की चरम आनन्दानुभूति में स्थित होकर बोल रहा है।

३९. परमसत् के आनन्दस्वरूप पर प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में आग्रहपूर्वक बल देते हैं। प्रो० पाण्डेय के अनुसार यह वह मुख्य व्यावर्तक विशेषता है जो प्रकाशानन्द को अन्य अद्वैतियों से पृथक् करती है जिनमें यह उतने मुखर रूप में नहीं पायी जाती है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि बीसवीं सदी के कई एक विद्वान अद्वैत की तुलना में काश्मीर शैव दर्शन या श्री अरबिन्द के दर्शन में परमत्त्व के आनन्द पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक आग्रह पाते हैं । पर जब हम प्रकाशानन्दकृत वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली का अवलोकन करते हैं या पाण्डेयकृत उसकी व्याख्या का अवलोकन करते हैं तब हम सहज समझ सकते हैं कि उपर्युक्त मत में कितना सत्य है। वास्तव में वेदान्त का समस्त आयोजन ही स्वरूपभूत नित्य आनन्द के साक्षात्कार हेतु पुरस्कृत होता है।

●

गीता में योग का स्वरूप

देवव्रत चौबे

भारतीय परम्परा में योग को किसी न किसी रूप में स्वानुभूति का प्रबल साधन माना गया है। इसलिए महाभारत में कहा गया है कि 'नास्ति योगसमं बलम्।' शिवजी पार्वती जी से कहते हैं कि कोई भी योग के बिना मुक्ति नहीं पा सकता (योगबीज ३१)। गीता को तो योगशास्त्र ही कहा गया है। प्रत्येक अध्याय का नाम योगान्त बताया गया है। प्रथम अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक का नाम क्रमशः अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुरसंपद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग और मोक्षसंन्यासयोग है। इन अठारह योगों को योग का अठारह भेद न मानकर गीता ने अठारह अध्यायों को कर्म, ज्ञान और भक्ति के तीन षट्कों में विभक्त कर दिया है।

गीता में अनेक प्रकार के योगों का उल्लेख आता है जिनमें से कुछ नाम ये हैं- समत्वयोग[१], ज्ञानयोग[२], कर्मयोग[३], दैवयज्ञयोग[४], आत्मसंयमयोग[५], योगयज्ञ[६], ब्रह्मयोग[७], संन्यासयोग[८], दुःखसंयोगवियोगयोग[९], अभ्यासयोग[१०], ऐश्वरयोग[११], नित्याभियोग[१२], सततयोग[१३], बुद्धियोग[१४], आत्मयोग[१५], भक्तियोग[१६] तथा ध्यानयोग[१७]।

गीता में विभिन्न स्थलों पर योगयज्ञ, योगसेवा, योगयुक्त, योगी, योगधारणा, योगेश्वर, महायोगेश्वर, योगवित्तम, योग एवं योगबल आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। भगवान् कृष्ण योग को विशेष महत्व देते हैं इसलिए अर्जुन को योगी बनने की प्रेरणा देते हैं।[१८]

यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि सामान्यतः शास्त्रों में योग शब्द का विवेचन साधन, संयोग तथा ध्यान (समाधि) इन्हीं तीन अर्थो में होता है।

गीता के भाष्यकार किसी न किसी संप्रदाय में बँधे होने के कारण किसी विशिष्ट एकदेशीय योग की ही प्रधानता बताते हैं। लेकिन कृष्ण ने इस प्रकार का कोई एकदेशीय योग नहीं बताया है। भारतीय परम्परा का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति नहीं अपितु विज्ञान प्राप्ति है। इसलिए गीता में भगवान् कृष्ण ने विज्ञान सहित गुह्यतम ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाया है।[१६] आचार्य शंकर के अनुसार शास्त्रोक्त पदार्थो को समझने का नाम ज्ञान है और शास्त्र से समझे हुए भावों को वैसे ही अपने अन्तःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करने का नाम विज्ञान है।[२०] यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि गीता में कई स्थलों पर योग शब्द का प्रयोग विज्ञान के अर्थ में हुआ है।[२१] योग सहित ज्ञान का अर्थ अनुभवयुक्त ज्ञान है। यही ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन है। भागवत में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानविज्ञान से युक्त व्यक्ति शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है।[२२]

गीता में अलभ्य लाभ के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है एवं प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है।[२३] भगवान् कृष्ण गीता में यह भी कहते हैं कि दुःख-संयोग के वियोग को योग समझना चाहिए तथा उसकी प्राप्ति के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।[२४] उसी योग में आत्मा अपनी दिव्यता के साथ स्थित होता है। कठोपनिषद् में भी वर्णन आता है कि जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रिय धारणा को ही योग कहते हैं।[२५] आचार्य शंकर के अनुसार यह अवस्था सब प्रकार के अनर्थों के संयोग से वियोग की अवस्था है, फिर भी इसे योग ही कहते हैं।[२६] भोजवृत्ति में प्रकृति और पुरुष के वियोग को योग कहा गया है।[२७] पातंजलमतानुसार चित्तवृत्ति का निरोध करके स्वरूपप्रतिष्ठ होना योग है।[२८] यहाँ ध्यातव्य है कि पातंजलयोग संयोगरूप न होकर वियोगफलक ही है। वह दुःख की निवृत्ति कराने वाला है, जैसा कि गीता में कहा गया है- दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने योग शब्द का अभीष्ट अर्थ समाधि किया

है- योगः समाधिः। ज्योतिष में ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष स्थिति को योग कहा गया है। आयुर्वेद में औषधियों के मिश्रण को योग कहते हैं।

यहाँ पर लोकमान्य तिलक के इस कथन की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि गीता में यद्यपि योग शब्द का अर्थ युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़ है लेकिन इन सामान्य अर्थों से ही काम नहीं चल सकता। जैसे, गीता में कहीं-कहीं अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की भगवान् की ईश्वरीय कुशलता और अद्‌भुत सामर्थ्य को योग कहा गया है। ऊपर के आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि गीता में योग की कोई एक परिभाषा नहीं दी गयी है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने योग का सबसे उत्कृष्ट और उपयोगी लक्षण 'योगः कर्मसु कौशलम्' किया है। इस संसार की कर्मशाला में मनुष्य कर्म करते हुए उसके बन्धन में न आवे, यही कर्मों में कुशलता है। योग का यही कौशल है कि बन्धन स्वभाव वाले कर्म अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। योग के इस परिप्रेक्ष्य में निष्काम कर्मयोग का स्वरूप जानना आवश्यक है। कर्मों के परिणामों की चिंता किए बिना तथा फल की आकांक्षा का त्याग करके केवल अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए कर्म करने चाहिए। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ''तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है फल की प्राप्ति में कभी नहीं। तुम कर्मफल प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला न बनो और तुम्हारी प्रीति अकर्म में भी न हो।''[२६] गियोर्डानो ब्रूनो का कथन है- ''मैं जूझा हूँ, यही बहुत है, विजय भाग्य के हाथों में है।''

भगवान् कृष्ण ने लोक को कर्मबंधन बताया है।[३०] संसार में कोई भी प्राणी क्षण भर भी कर्मरहित नहीं रह सकता। गीता में कर्म के दो रूप बताए गए हैं। प्रथम जो लोक व्यवहार में दिखता है उसे सकाम कर्म कहते हैं। यह कर्मफल की आकांक्षा के साथ होता है। वास्तव में कर्मों की क्रिया मनुष्य को नहीं बाँधती। फल की कामना और आसक्ति से ही उसका बंधन होता है। यदि फल की कामना और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्य को बाँध नहीं सकता। इसी को निष्कामकर्म कहते हैं।

निष्काम कर्म के संपादन में समत्व बुद्धि का योग विशेष रूप से रहता है क्योंकि समता को ही योग कहते हैं- 'समत्वं योग उच्यते।[३१]' यहाँ पर यह पूछा जा सकता है

कि समत्व कब आता है? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत में यह दिया गया है कि जब यह मन मैं और मेरेपन के कारण होने वाले कामक्रोधादि विकारों से मुक्त हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखादि से मुक्त एवं शुद्ध होकर सम अवस्था में आ जाता है।[३२] गीता में परमात्मा भी सम है- निर्दोषं हि समं ब्रह्म।[३३] आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्म सम है और एक है। इसलिए समदर्शी पुरुष ब्रह्म में ही स्थित हैं।[३४] और उसी को मोक्ष मिलता है- ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति (छान्दोग्योपनिषद् २:२३:१)।

यहाँ पर अवधेय यह है कि बुद्धि में समत्वभाव और कर्म करने की कुशल युक्ति- ये दोनों कर्मयोग की दो आँखें हैं। जो चतुर हैं वे कर्म के फल से अपने मन को अलग रखते हैं। इसी कारण कर्म करते हुए भी कर्मों में लिप्त न होकर मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। वे लोकमंगल की भावना से पावन कर्त्तव्यकर्मों को करने में संलग्न रहते हैं। गीता का उपदेश कर्म का त्याग नहीं कराता बल्कि कर्म में त्याग सिखाता है। यहाँ पर यही कहना उचित जान पड़ता है कि कर्मयोग साधन के रूप में ही गीता का प्रधान विषय है।[३५]

गीता में योग को आत्मविशुद्धि का साधन भी माना गया है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मन की एकाग्रता और इन्द्रिय निग्रह के बिना आत्मशुद्धि संभव नहीं है। इसलिए योगी को इन्द्रिय निग्रह एवं मन की एकाग्रता के लिए योग का अभ्यास करना चाहिए।[३६] मन की एकाग्रता के लिए योगसूत्र में कई साधन बताए गए हैं। उन साधनों का उल्लेख गीता में भी मिलता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे जो कि न बहुत ऊँचा हो और न नीचा, उस पर पहले कुशाघास, फिर मृगछाला और तब वस्त्र बिछावे। वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोककर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठकर योगाभ्यास करे। पीठ, मस्तक और गर्दन को सीधा और स्थिर रखते हुए इधर-उधर न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमाकर निडर एवं शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ तथा मन को संयमित करके मुझमें ही चित्त को लगाकर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।[३७]

यहाँ पर गीता का यह कहना है कि चित्त की एकाग्रता का उपयोग ईश्वर के

स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में ही होना चाहिए। ऐसा होने से ही योग सुखकारक होता है अन्यथा दुःखदायक ही होता है।

चित्त की एकाग्रता के लिए गीता ने जीवन में परिमितता और समदृष्टि का होना भी आवश्यक माना है। नियत आहार-विहार और नपे-तुले कर्मों के आचरण से ही मन संयमित होता है। समदृष्टि भी चित्त को एकाग्र करती है। बिनोबा भावे के अनुसार समदृष्टि का अर्थ शुभदृष्टि है। वे समदृष्टि की भावना को ही एकाग्रता का उत्तम मार्ग मानते हैं।[३८] मन के स्थिर हो जाने पर ही समत्व भाव की प्राप्ति होती है। लेकिन अर्जुन को साम्यबुद्धिरूप योग की प्राप्ति कठिन दीखती है। इसलिए वे भगवान् कृष्ण से कहते हैं कि हे मधुसूदन! आपने जो यह समत्वभावरूप योग बतलाया है, मन की चंचलता के कारण मैं इस योग की अचल स्थिति नहीं देखता हूँ क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल, प्रमथनशील तथा बलवान् है। इसलिए वायु के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।[३९] इस पर कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम ठीक कह रहे हो। फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निरोध किया जा सकता है।[४०] योगसूत्रकार भी अभ्यास और वैराग्य को चित्तवृत्ति निरोध का मुख्य सोपान मानते हैं।[४१] सर्वप्रथम वैराग्य के द्वारा चित्त की बहिर्मुखी धारा रोकी जाती है तदनन्तर चित्त की अन्तर्धारा अभ्यास के द्वारा प्रबल की जाती है। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि चित्त को सब ओर से खींचकर बारंबार एक अवलंबन में लगाने का नाम अभ्यास है।[४२] योगसूत्र में अभ्यास को यत्न कहा गया है।[४३] अभ्यास का गीता में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि अभ्यासयोग के द्वारा व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।[४४] लेकिन इस लोक और परलोक के भोगों में वैराग्य हुए बिना मन निश्चल रूप से परमात्मा में नहीं लगेगा और परमात्मा में लगे बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

गीता में भक्तियोग को सुगम और सहज बतलाया गया है। यहाँ पर योग का प्रयोग उपाय या साधन के साथ ही साथ संयोग के अर्थ में भी हुआ है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह तीनों गुणों के पार होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के योग्य हो जाता है।[४५] जब भक्ति प्रबल होती है तब भक्त अपने आप को भगवान् के साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त अनुभव करता है। वह अपने अन्दर भगवान् को और भगवान् में अपने आप को देखता है। प्रह्लाद का कहना

है कि मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य भगवान् की परमभक्ति और उसकी विद्यमानता को सर्वत्र अनुभव करना है।[४६] भगवान् कृष्ण कहते हैं कि- ''जो सब कर्म मुझे अर्पण करता है, जो मत्परायण होकर अनन्य योग से मेरी उपासना करता है, मैं उसका उद्धार कर देता हूँ। इसलिए हे अर्जुन! मुझमें ही मन लगाओ, मुझमें ही अपनी बुद्धि को स्थिर करो। उसके बाद तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।''[४७]

भक्ति का मार्ग उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है जो संसार से न तो बहुत ऊबा हुआ है और न संसार में बहुत आसक्त है।[४८] गीता में भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अनन्यभाव से भक्ति करने वाला, चाहे वह बड़ा भारी दुराचारी ही क्यों न रहा हो, साधु ही समझा जाता है।[४९] यदि व्यक्ति अपने आप को परमात्मा के हाथों में छोड़ दे तो वह नितान्त अंधकार में नहीं पड़ सकता। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जो लोग मेरी शरण ले लेते हैं वे परमगति को प्राप्त कर लेते हैं।[५०]

यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि भक्ति जाति, संप्रदाय, लिंग आदि को लेकर कोई भेद नहीं करती है। इसलिए गीता का कहना है कि ईश्वर का आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र सभी सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे समदर्शी भगवान् के भक्ति मार्ग में सभी मनुष्य बिना किसी प्रतिबन्ध के प्रविष्ट हो सकते हैं। और परमात्मा के साथ संयोग स्थापित कर सकते हैं। इस मार्ग का पथिक योगयुक्त पुरुष भी सबको समदृष्टि से ही देखता है।[५१]

विषमता से रहित होने के कारण भक्तियोग को राजविद्या भी कहते हैं। यह राजगुह्य है। क्योंकि यह केवल भक्तों के लिए है।[५२] यहाँ पर अवधेय यह है कि राजयोग शब्द का प्रयोग महर्षि पतंजलि अपने सूत्रों में कहीं करते नहीं दीखते हैं। फिर भी पातंजल योगसूत्रों में प्रतिपादित योग के लिए राजयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। भगवद्गीता में महर्षि व्यास ने राजविद्या एवं राजगुह्य[५३] शब्दों का प्रयोग किया है जो राजयोग के समान हैं। राजयोग का अर्थ सर्वश्रेष्ठ योग है। आचार्य शंकर, रामानुज ने राजविद्या पद का विग्रह 'विद्यानां राजा' किया है तथा राजगुह्य पद का विग्रह 'गुह्यानां राजा' किया है। राजविद्या शब्द से यहाँ भक्तिमार्ग ही विवक्षित है। भक्तियोग में विभूतियोग तथा विश्वरूपदर्शनयोग दोनों सम्मिलित हैं। भक्ति की अवस्था में भक्त को

भगवान् के विश्वरूप का दर्शन होता है। वह सर्वत्र भगवान् को व्याप्त देखता है।[५४]

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह है कि गीता के चौथे अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण उस योग को जिसकी शिक्षा वे अर्जुन को दे रहे हैं, अव्ययोग कहते हैं। साथ ही साथ वे यह भी कहते हैं कि इस योग का आदि विधायक मैं ही हूँ। यहाँ पर अवधेय यह है कि भगवान् कृष्ण ने इस स्थल पर एक ही अव्ययोग की बात की है, विविध योगों की नहीं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि पहले जो कुछ भी हमने कहा है वह सब इसमें है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि योग एक ही था। धीरे-धीरे गुरु-शिष्य परंपरा के फलस्वरूप उसी एक अव्ययोग से अनेक शाखा-प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं।

अन्त में डॉ० भगवानदास के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि- ''श्रीकृष्णजी का मत यही है कि जीव का परमात्मा के साथ अपना अभेद सर्वदा सर्वथा अनुभव करते रहना और इसके कारण सब जीवों के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व्यवहार करना- यही परमयोग, जीवत्मा-परमात्मा का अभेदात्मक संयोग और भेदभावजनित दुःखों का वियोग है। यहाँ 'योग' शब्द योग से साधनीय अवस्था के अर्थ में कहा गया है। योग तो साधन है। जीवात्मा-परमात्मा का अभेद, कैवल्य, यह साध्य है।'' यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक जान पड़ता है कि गीता के योगमार्गों में आपस में कोई भी विरोध नहीं है। सभी मार्गों से उसी एक गन्तव्य स्थान पर पहुँचा जाता है।

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सन्दर्भ-सूची

१. गीता २:४८; ६:२९-३३
२. गीता ३:३;१३:२४;१६:१
३. वही ३:३;५:२;१३:२४
४. वही ४:२५
५. वही ४:२७
६. गीता ४ : २८
७. गीता ५ : २१
८. गीता ६:२;९:२८
९. गीता ६ : २३
१०. गीता ८:८;१२:९
११. गीता ११:४-९
१२. गीता ९:२२
१३. गीता १०:९;१२:१
१४. गीता १०:१०;१८:५७
१५. गीता १०:१८;११:४७
१६. गीता १४:२६
१७. गीता १८:५२
१८. गीता ६:४६
१९. गीता ७:२
२०. गीता (शांकरभाष्य) ६:८

२१. गीता (शांकरभाष्य) १६:१
२२. भागवत ११:१८:४६
२३. गीता ६:२२
२४. गीता ६:२३
२५. कठोपनिषद् २:३:१०-११
२६. वही (शांकरभाष्य) २:३:११
२७. योगसूत्र (भोजवृत्ति) १:१
२८. योगसूत्र १:२
२९. गीता २:४७
३०. वही ३:९
३१. वही २:४८
३२. श्रीमद्भागवत ३:२५:१६
३३. गीता ५:१९
३४. वही शांकरभाष्य ५:१९
३५. गीता ५;६;६:३
३६. वही ६:१२
३७. वही ६:११-१४
३८. विनोबा, गीता-प्रवचन, पृ० ७६-७७, सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, २००४
३९. गीता ६:३३-३४
४०. वही ६:३५
४१. योगसूत्र १:१२
४२. गीता, शांकरभाष्य १२:९
४३. योगसूत्र १:१३
४४. गीता १२:९
४५. गीता १४:२६
४६. भागवत ७:७:३५
४७. गीता १२:६-१०
४८. भागवत ११:२०:७
४९. गीता ९:३०
५०. वही ९:३२
५१. वही ६:२९
५२. वही १८रू६८
५३. वही ९:२
५४. वही ११:५४

●

CONCEPT OF ELEMENTS IN BUDDHIST LITERATURE

N. C. PANDA

Buddhism, no doubt is a Great religion of the World. Lord Buddha is the sole authority of this religion. He has advised as well as educated his disciples through various stories with examples. These texts are known as TripiÔaka. These are the most sacred texts in the Buddhism and the devotees are used to follow these advices of Buddha in a disciplined way. In this paper the nature and special qualities of the elements will be clearly elaborated as described in the Buddhist texts.

The great elements of nature have a lot of significance in the ancient scriptures of the Indian Tradition. Similarly, the five elements described in the ancient texts, basically are a nomenclature for a similar classification which was done as a result of extensive research by the seers. These five elements are those that we are made up of and the entire universe as well and these are the elements that we will end. They are the reality of life and they must be a part of every aspect of our life.

The structural exposition of the beings has been made with two reels, viz. *nâma* and *rūpa*. The term *nâma* (*namati iti nâmam, cintanam vâ*) stands for the inner personality, expressing itself through the *citta* (consciousness) and *cetasika* (psychic factors). *Rūpa* (matter) refers to the physical personality, within and without, gross in nature and material in character with all its varieties of manifestations. Matter is that which appears or manifests itself to the senses (*rūpati iti rūpam*) without ever suggesting reality or stability, substance or substratum. So matter is what materializes. Different meanings are given of this materializing—as pressure, pain, disappearance or change. Thus, matter is something that disappears. In Modern science matter is anything that has mass (heaviness) and occupies space. To understand this material world knowledge of matter is most essential. An element consists of only one kind of atoms.

The elaborate discussion of the Dhammasangaṇi begins by defining *rūpa* or matter as "रूचत्वारो च महाभूता चतुन्नत्र्च महाभूतानम् उपादायपम्[1] –the four *mahâbhūtas* or great basic elements that proceeding from the grasping of that is called *rūpa*. Buddhaghoṣa explains it by saying that *rūpa* means the four *mahâbhūtas* and those which arise depending on them as a modification of them. In the *rūpa* the six senses including their affections are also included. In the Samyutta Nik*â*ya the Buddha says "O *bhikkhus* it is called *rūpam*, because it manifests (*rūpayati*); how does it manifests? It manifests as cold, and as heat, as hunger and as thirst, it manifests as the touch of gnats,

mosquitoes, wind, the sun and the snake; it manifests, therefore it is called *rūpa"* [2]. This *rūpa* or matter is atomic.

Matter is regarded as the collective organism or collocation, consisting of the fourfold substratum of colour, smell, taste and contact. The unit possessing this fourfold substratum is known as *paramâṇu*, which is the subtlest form of *rūpa*. It cannot be pierced through or picked up or thrown away. It is indivisible, un-analyzable, invisible, inaudible, untestable and intangible. It is not permanent, but is like a momentary flash into being. The simple atoms are called *dravya-paramâṇu* and the compound atoms *samghata-paramanu*.[3] A *dravya- paramâṇu* never arises or exists in isolation. It always arises and exists in combination with other *dravya- paramâṇus*. A collection of them, forming a unity and having a simultaneous origination and a simultaneous cessation, is called *samghâta-paramâṇu*, 'aggregate-atom', i.e. molecule.[4] (*na vai paramâṇu rūpamekam prthagbhutam asti / samghâtastham tu tad rūpyate eva*[5]). The smallest *samghâta-paramâṇu* is an octad consisting of the four primary elements and four of the secondary elements, viz. *rūpa, rasa, gandha* and *sparśa.* That the four primary elements always arise simultaneously and that the secondary elements cannot arise independently of the primary, are the two fundamental principles involved in the conception of the *samghâta-paramâṇu*. This is a brief note of the two kinds of *paramâṇu* postulated by the Vaibhaśikas. According to Prof. T.A. Stcherbatsky "the combined atoms (*samghâta-paramâṇu)* alone appear in phenomenal reality, the

simple ones, or infra-atomic elements, presumably, were relegated to transcendental reality, in accordance with the general character of a Buddhist element."[6] The organs of sense are also regarded as modifications of atomic matter. Seven such *paramâṇu* combine together to form an *aṇu*, and it is in this combined form only that they become perceptible. The combination takes place in the form of a cluster having one atom at the centre and others around it. The point which must be remembered in connection with the conception of matter is this, that the qualities of all the *mahâbhūtas* or primary elements are inherent in the *paramâṇu*.

The ultimate units of matter elements are known as *paramâṇu* or the properties. These properties are of four different kinds, viz. *prthivi* (earth particles), *ap* (water particles), *vâyu* (air particles), and *tejas* (fire particles). These are known as four *mahâbhūtas* or great elements.[7] Most of the schools of Indian thought, notably the Sâ mkhya, the Vedanta and the medical tradition as represented by Caraka and Su*ś*ruta, recognizes five great elements, such as: *prthivi, ap, tejas, vâyu* and *âkaśa*. That *âkaśa* (ether or space) is the fifth, is admitted by the Ny*â*ya-Vai*ś*eṣika too.

In Buddhism, although hypothetically these *mahâbhūtas* are said to be of different types, they are seldom found in isolation[8;] each type remains in a mixed up condition with the remaining types. Each particular class of *mahâbhūtas* contains its one characteristic feature, *e.g*. the earth particle (*prthivi paramâṇu*) as got hardness; water particle has got humidity;

fire has got heat and air particle has got motion. It is said that these four types remain in each constituted object in relative proportion. All these four primary elements are characterized with colour (*varṇa*) and shape (*samsthâna*).

Although Buddhism does not ignore the concept of space (*âkâśa*), but enters it in a list of six *dhâtus* with *vijnâna*. In many respects it differs from the other four: it is a non-corporeal (*amurta*) substance devoid of tactility (*sparśa*) and characterized by ubiquity (*vibhu*), absolute continuity and infinite magnitude. As such, unlike the other four substances, it is not, in the ultimate analysis, composed of atoms. Thus, although *âkâśa* is introduced as a *bhūta* (element), in view of its peculiar characteristics, it has to be distinguished from the other four and is, in a way, on a par with such intangible substances as *kâla*, time.

The four principle characteristics of matter are referred to and enumerated in many canonical texts.[9] This has also been elucidated in the commentarial works, *viz.* Atthas*â*lini and Visuddhimagga. They are called *mahâbhūtas* or great primary elements, because of manifestation of greatness. It means they manifest with immense vastness with respect to phenomena 'grasped at' (*upâdinnasantati)* and those of un-grasped at (*ana-upâdinna-santati*). In case of *upâdinna-santati*, they appear as the material forms, as the bodies of various kinds of beings, like human beings, animals, birds, etc. But in case of *ana-upadinna-santati*, they appear into a world system, tremendously vast, traditionally calculated as 1203450 *yojanas* in

circumference containing big waters, mountains, as well as the great famous trees like Jambu tree, Kappa tree, etc.[10]

These four primary elements are being elaborated as under:

***Pathavi-dhâtu* (earth element)**:

The word *prthivi* (*pathavi)* is derived from the root *prath-* (*puttha-*), meaning to expand or extend and directly refers to the vastness of the earth. It is the feminine form of the non *prthu* which means vast, broad, expansive, *etc*. *Dhâtu* means that which bears its own characteristic marks (*attano sabhavam dhâretiti dhâtu*). So, the literal as well as nearer meaning of the term is 'the element of extension'. It does not stand only for geometrical extensions of length, width and height, but also for solidity and hardness. Whatever is hard and solid is the element of earth.

यं अज्झत्तं कक्खळं खरिगतं उपादिन्नं, सेय्यथीदं - केसा लोमा नखा दन्ता तचो मं सं ..... यं वा पनञ्ञं पि चित्रिच अज्झतं पच्चत्तं कक्खळं खरिगतं उपादिन्नं। अयं वुच्यतावुसो, अज्झत्तिका पठवी धातु ।[11]

So, the earth element is that which is hard (*kakkhalam*), rough (*khara-gatam*), hardness (*kakkhalattam*), rigidity (*kakkhal abhavo*) both internal and external.

For the Abhidharma, too, *kakkhala* and *khara* which mean hard and rigid respectively bring out the essential nature of earth element.[12] The first is said to represent its characteristic (*lakkhana*) and the second, its mode (*âkâra*).[13] Similar definitions are met with in other schools of Buddhist thought.

The Mahavastu says that when the living beings who lived at a new evolution of the world began to eat whole mouthfuls of the essence of this earth as food, their bodies came to possess the characteristics of *gurutva* (heaviness), *kharatva* (roughness), *kakkhatatva* (hardness).[14] The Abhidharmakośa and its commentary, too, use the latter two terms in defining the *pathavi-dhâtu*. In the Abhidharma Samuccaya it is defined as '*kathinata*', a term which could be interpreted as meaning 'solidity'. As such this interpretation is almost the same as that explained by the Theravâdins. Thus, there is a common outlook among the Buddhist scholars in maintaining that what is called primary element of earth stands for the phenomenon of hardness, solidity or compactness in matter. It is a repellent energy which gives to matter the characteristics of dimension, expansion, weight and pressure.

***Âpo-dhâtu* (water element):**

The term *ap* is derived from the root *âp-*, which means 'to pervade' or 'to obtain' (*âpnoti*). *âpo-dhâtu* represents the fact of viscidity (*sineha*) and cohesion or binding together in matter—' *rūpassa bandhanattam'*.[15] It is the binding quality of matter, as it acts as a binding force of the material elements. In the Sanskrit Buddhism, i.e. in the Abhidharmakośa, *âpo-dhâtu* is defined in a similar manner. It stands for *dravatva* (liquidity) and *snehatva* (viscidity) in material things[16]. The Vaiśeṣika School also accepts '*ap*' substance with the same two characteristics as: '*rūpa-rasasparśavatya âpo dravyah*

snigdhah'[17]. But according to the Vaiśeṣikas liquidity and viscidity are qualities inherent in the '*ap*' substance. No such dichotomy is recognized by the Buddhists.

However, cohesion is that which diffuses itself throughout its co-existent qualities or that which increases the bulk of them.[18] Thus, although fluidity (*paggharana*) is its distinctive characteristic, yet cohesion is its particular function. It is interesting to note that this quality of cohesion is not perceptible to the sense of touch or sense contact, for it is an entirely 'internal' quality which does not exert its energy in a way which can be apprehended by the sense organs.

***Tejo-dhâtu* (fire element):**

The word *tejas* (*tejo*) is derived from the root *tija-niúâne* 'to be sharp' (cf. Greek *stigma*, Latin *in-stig-are*, English *sting*, German *stechen*, *etc*.). In Sanskrit, starting from Vedic times, *tejas* first expressed the meaning of a sharp ray of light, point of a flame and then fire and light. In Buddhism also *tejo-dhâtu* signifies the phenomenon of heat, the term being used is *usma* or *usuma*.[19] *Tejo* (*tejas*) is the essential material quality of thermal energy or temperature in its various aspects and degrees of cold (*sita-tejo*) and heat (*usma-tejo*). This, too, is a primary quality inherent in all matter. Both *pathavi* and *âpo* are essentially affected by changes in temperature; for heat can expand and even melt solids, while liquids are congealed by cold; evaporation and condensation are produced by changes in temperature and variations of caloricity.

It was only in the Nineteenth Century that Science found it possible to agree with Buddhism, when it was discovered that temperature was due to motion: the kinetic theory. *Tejas*, then, is that essential material quality which gives 'life' to matter, without which the other primary qualities could not function. It stands for the maturation of diseased matter, for digestion and assimilation of food (*paripacana*)[20] , for evolution as well as involution. For this is the element which heats, matures, sharpens and imparts heat to all other material elements.

***Vâyo-dhâtu* (air element):**

The word *vâyu* (*vâyo*) is derived from the root *vâ-* 'to blow', 'to move', etc. The meaning of this word is also known as motion, vibration, oscillation and pressure. It is a material energy to keep the things in a particular position by generating pressure all around. It is defined as the air (*vâyu*), that which belongs to air (*vâyogatam*), fluctuation; and the inflation of form (*thambhitattam rūpassa*[21]). The standard term used in the P*â*li commentarial works to describe the *vâyo-dhâtu* is '*samudiraṇa*', which means mobility or motion.[22] There is general agreement among the scholiasts that *vây vâyo-dhâtu* is representative of mobility or motion (*irana, samudiraṇa*).

This (air-element) is not to be understood merely as the movement of air, or of an object in space, but far more as the continuous adjustment between the two opposite forces of extension (earth), which repels and cohesion (*âp*) which attracts. This oscillation between attraction and repulsion causes a natural

friction which is the generator of heat. Thus, *vâyu* is as much a condition for the arising of *tejas*, as *tejas* is a condition for the origination of movement. It is through vibration that extension is felt as pressure; through vibration also cohesion becomes magnetic and centripetal. In a way, vibration is the most important of the four great elements as it is mainly through this essential quality that matter is known to us.

The general position assigned to the elements may now be examined. If someone will examine how the elements are interpreted in other systems of Indian Philosophy one would notice that in Buddhist thought they are assigned a comparatively primary position. What the Sâmkhya considers as elements are not the ultimate irreducible constituents of matter, for they are evolved immediately from the *tanmâtras* and ultimately from the Prakriti. According to the Vedântins the elements are produced from the *sūkṣma-bhūtas*. For the Jains the ultimate constituents of *puggala* (matter) are not four elements (*dhâtū-catukka)* but the homogeneous atoms. The latter are recognized as the essential causes of the former.[23] The Nyâya-Vai*ś*eṣikas postulate four kinds of atoms corresponding to the four elemental substances, viz. *prthivi, ap, tejas* and *vâyu*. This may be described as an attempt to reconcile the older theory of the elements with the later atomic theory.

In Buddhism, unlike in many other systems of Indian thought, the elements (*mahâbhūtas*) are assigned a primary position in the sense that they are recognized as the ultimate irreducible data of matter. It is of course true that a given

instance of matter consists of not only the four elements but also a set of *upadâ- rūpas*, such as colour, smell, etc. But these so called *upadâ- rūpas*, as conceived by the Buddhists, are always depended on, therefore secondary to, the elements.

The Buddhist concept of *bhūtas* (atoms) may be compared with the atoms of ancient system of Greek Philosophy, Leibnitz's philosophy of spiritual atomism, and logical atomism of Vaiśeṣika Philosophy with the physical properties of modern science. The Buddhist conception of the atoms lying always in group seems to remove an ancient difficulty of Nyâya-Vaiśesika idea about a combination of two atoms (*dvyaṇuka*) and perceptible manifestation of the combination of three atoms (*trasareṇu*). Thus, these thinkers take recourse to *ârambhavâda* (theory of new origin) and *iśvara karanata-vâda* (theory of causal agency of God) in order to explain that combination. These two ideas on the other hand are criticized by the Buddhist thinkers. Buddhists view seems to be more rational when they hold that the atoms always are found together. Unlike the Monads of Leibnitz, the atoms, according to Buddhists, are not spiritual but physical. These atoms again are momentary and dynamic. This idea, however, is not generally found in Greek school of atomism; evidently, a scientific approach is seen here and the approach is very close to that of in modern physics. These atoms in their composite state are subject to change from moment to moment.

Thus, although the modern conception of Physics, like field of forces, seat of energy, or dynamism or space time

units are not clearly found in Buddhist thought, it is evident that these ancient Buddhist thinkers grasped the correct nature of the universe as multiversity, evanescent and changing at every moment. Though appearing as a continuous and a single one, the universe is a composition of momentary units just flowing on. These, abstract and hypothetical units whether they are thought as *dharmas* or atoms are only comparable with the views of modern scientists like John Eddington or like Sir James Jeans.

From the foregoing description of the four primary elements it would appear that *prthivî* stands for solidity, heaviness and extension, *âp* for viscidity and cohesion, *tejas* for the temperature of cold and heat and *vâyu* for motion. These four elements are coordinate and represent four distinct forces or phenomena in the realm of matter. Besides, another fundamental feature of these elements is that they always remain together (*sahajâta*). No element can exist independently of the other three.[24]

Modern Scientific concept of material elements was latent, since the very outset of creation. Hence, in Buddhism the basic four material elements are discussed from the scientific outlook. In the Science three forms of matter exist—solid, liquid and gas. Solid is compared with earth element as it has mass (weight or heaviness), which also occupies space. Water element is a liquid form of matter, whereas heat (*tejas*) and air (*vâyu*) are considered as gaseous form of matter. This

way, the basic material elements are analyzed in Buddhist thought bearing the idea of Modern Science.

Deptt. of Sanskrit (VVBIS & IS),
Panjab University, Sadhu Ashram, Hoshiarpur, Punjab-146021.
e-mail: ncpanda@gmail.com

References

1. Dhammasangaṇi, pp. 124-179.
2. Samyutta Nik*â*ya, III.86.
3. Abhidhammako*ś*a Bhâṣya, I.13.
4. *Ibid*., II.22.
5. *Ibid*., I.13.
6. *The Central Conception of Buddhism*. .
7. तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं - पथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातू ति। विसुद्धिमग्ग, निद्येस 14.35; (cf. *bhūtani prthividhaturaptejovayudhatavah*—Abhidharmako*ś*a, I.12).
8. *Samcita dasar ūpinah* – Abhidharmako*ś*a I.35 comm. and *na vai paramâṇr ū pamekam prthagbh ūtamasti*, *ibid*., I.13.
9. *Samannaphala Sutta of Digha Nik âya*, I.76 (*catumahabhutiko*); Ananda Vagga's fifth sutta of Anguttara Nik*â*ya, I.222; *upadana parivatta sutta of* Samyutta Nik*â* ya, III.56, *sanka sutta of* Majjhima Nik*â*ya, I.185, etc. (*cattaro mahabhuta – pathavi-dhatu, apo-dhatu, tejo-dhatu, vâyo-dhâtu*).

10. *Patali-simbali-jambu, devanam paricchattako /*
Kadambo kapparukkhoca, sirisena bhavati sattamo//
Atthas*â*lini, 242**.**
11. Majjhika Nik*â*ya**,** *Mahâhatthipadopama Suttam* (I.185).
12. Dhammasangaṇi, p. 177; cf. Vibhanga P*â*li, p. 82 (P.T.S.).
13. *Tattha pathamam lakkhana-vacanam dutiyam akara-vacanam* – Visuddhimagga, p. 286 (P.T.S.)
14. *yato ca bhiksavaste satva tam prthivirasamalopakara – kamaharam – iharensuh atha tesam kaye gurutvam ca kharatvam ca kakkhatatvam ca upanipate* – Mahâ vastu, I.339 (P.T.S.).
15. Dhammasangaṇi, p. 226; Vibhanga P*â*li, p. 83 (P.T.S.).
16. Abhidharmako*ś*a, (comm.) I.
17. Vai*ś*esika Sutra, II.1.2
18. *Apeti sahajatarupani pattharati; appayati va bruheti vaddhetiti apo* – Abhidhammattha-vibhavani, p. 167.
19. Dhammasangaṇi, p. 177, Vibhanga p. 83 (*usma usmartatam usumam usumagatam ,ajjhattika tejodhâtu'*).
20. Atthas*â*lini**,** p.332**.**
21. Vibhanga P*â*li, p. 84 (3.1.5).
22. Atthas*â*lini, p. 332, Abhidhammatthavikasini, p. 251, cf. *samuîranâ vâyudhâtu*—Abhidharmako*ś*a Bh*â*sya (sphutartha) II.22.
23. cf. *Adesamattamutto dhatucatukkassa karanam jo du – so neo paramano parinamaguno sayamasaddo*, Pancastikâyasâra, p.28.
24. Abhidharmako*ś*a, Ch. II, p. 248.

●

FEMALE ENERGY AND KASHMIRI MYSTICISM

KARTAR CHAND SHARMA

Yaiva devī umā saiva kaśmirā nṛpasattam /
āsīt saraḥ pūrṇajalam suramyam sumanoharam // [1]

According to above verse of the Nīlamatapurāṇa, the Goddess of Kashmir and Devi Umā (Śakti of Śiva) are the same. Because the land of Kashmir was the lake for six Manvantaras since the beginning of the kalpa, and it became a beautiful territory in this Manvantara. According to Vaishampayana (a pupil of Vyāsa), once the king of Kashmir, Gonanda when asked to Brihadashva (a saint) about the existence of Kashmir territory [2], then he told him that in the end of Vaivasvata Manvantara everything on the earth was destroyed completely[3] except some mountains and whole world then turned into a sea. At that time the Lord Śiva Himself changes in the form of water and stays all around this world.[4] Then for the existence of this world Goddess Sati Herself assumes the form of boat and then Manu through magical power, places all the seeds of creation in

the boat.[5] At the same time the father of the world - Viśṇu assumes the form of a fish - drags off that boat by means of his horn.[6] The Goddess Sati, with the body in the form of the boat, becomes the earth and on the earth a lake of clear water takes place, known as satisara, which was six yojanas long and half of that in breath, which is today called the valley of Kashmir.[7]

Like this the female energy always plays a major role behind the existence of creation. No creation is possible without the meeting of male and female energy at any level. Here question arises that behind the creation there are two elements i.e. male and female or only one. Because some phiolsophical schools like Sāṁkhya etc. in favour dualism and other schools like Vedānta etc are in favour of monism approach. We can understand this properly only with the help of Kashmir Shaivism. This system of philosophy is based on monism (advaitism), which means that this universe is not separate from Śiva. The whole creation is a mere manifestation of the Lord Śiva as the images of an imagination, the scenes of the dream or the creation of a person who has attained certain yogic powers are those of the limited selves. Our experience tells us that things of imagination, dream and yogic creation have no existence independently or separately from the ultimate self which is responsible for this manifestation. The Kashmir Shaivism holds that the whole universe arises from, has its being within, is maintained by and again merges in the same

universal consciousness or self. According to this system the process of manifestation is nothing but a gradual bifurcation of the unity of Śiva and Śakti, being a bodha and svātantrya. There is direct correspondence between the manifestation of Śakti and objective manifestation of the universe. The Kashmir Shaivism is of the view that Śakti which is the innate vibrating power of the Lord is identical with the female energy and the world out there is nothing but its manifestation condition. The Lord, who is the cause of the universe, endowed with his Śakti carries out the acts of manifestation (sṛṣṭi), maintenance (sthiti), withdawal (saṁhāra), concealment (tirodhāna), and grace (anugraha).[8]

The same supreme I consciousness of the Lord manifestating within itself this universe of diverse objects as if moving is here referred to as Spanda. The idea underlying the Spanda is that Śiva's Śakti which manifested the whole universe comprising the thirty six creational categories from the Śiva to earth. According to this doctrine, the manifested universe is a play of the Śakti, force or vibration and it is the nature of Śiva. So the Spanda is the basic principle in the Kashmir Shaivism and it is most important from the point of view of modern sciences. Because the hardest, heaviest, the apparently stand-still mass of the matter, in the physical universe is just a volume of "pulsating, throbbing waving, vibrating flowing". In these circumstances the discovery of modern physics that 'matter' is only waves of various lengths, without there being any essentially solid, hard stuff in matter

is not a new thing but it is a re-discovery of the Kashmir Shaivism's concept i.e. Spanda.

Thus when the Lord, veiling by way of sport the real nature of his self adorned with the highest power (Parā-śakti) endowed with universal energy, desires to display manifestation in different forms, on the screen of his own self. Then his power of absolute freedom becomes Will power which assumes the power of cognition and action. As such that power of absolute freedom becomes two in the form of seed (Vowel) and matrix (Consonant) which respectively indicate Śiva and Śakti. It also appears as nine fold according to the division of letter groups (vargabhedena), and fifty fold according to the division of letters of those groups. Appearing in the form of the goddesses Aghora, Ghora and Ghorātari who comprehend those letters, it brings about the fivefold acts of the Lord. As has been said in the Mālinivijayottaratantra.[9] That Śakti (consciousness) of the creator of the world who is to be constantly co-inhering in Him (Śiva) becomes icchāśakti (will power) when He wants to create. How the Śakti of Śiva, though one, becomes many? This got objectivity and this object is like this (as I have willed), not otherwise - announcing this with perfect definiteness, then she is said to be jñānaśakti (the power of knowledge) in the world. When she got clear objectivity then it called kriyāśakti (the power of action).

So, the process of becoming many from one is nothing but a gradual bifurcation of the unity of Śiva and Śakti

(male energy and female energy). This process of bifurcation or manifestation we can understand by the four manifestational stages of the speech (Parā-vāk) i.e. Transcendent (Parā), the Visionary (paśyantī), the Middle (madhyamā), and the Gross (vaikharī). Actually these four stages of the speech have not separate existence. There is only one speech i.e. Parā other stages of the speech take place due to this. The Parā state is the state of absolute, and so in the self (aham) alone exists. As the state of pure unity, the Parā at this level accordingly suffers from the differentiation, which actually is the character of the manifest. At this stage supreme level absolute, although the source of creation, is seen to be beyond the creational categories. The self at this stage is conscious of itself without having any consciousness of the object, 'I - this' (aham idam), but only pure subject. It amounts to saying that consciousness at this level does not go out itself in search of objects, but remains absorbed within its own subjectivity. It is so referred to as that of the pure subject, and accordingly the absolute ego is viewed as being non relational.[10] The absolute speech (Parā-vāk) descends to the stage of the Visionary (paśyantī) when desire arises within it for the creational manifestation. The arising of desire within the speech is linked to the swelling (ucchuntā) of the seed, which denotes the first step for the coming into being of the plant.[11] The seed upon its swelling, develops an inclination (unmukha) towards manifesting itself as the plant.[12] It is a state in which the actual manifestation

does not take place. There is only an inclination or desire to become manifest. Among the three creational powers of Śiva i.e. will, knowledge and action (icchā, jñāna and kriyā), the will power (icchāśakti) take place at this level. As the Transcendent (para) state represents the pure unity of the absolute, so the Visionary (paśyantī) embodies the state of unity in difference (bhedābheda), or what is technically called 'I - this' (aham-idam). At this stage no difference is pronounced between the world and its object. It is just in the making both the word (vācya) and the object (vācaka) are in an undifferentiated state. Although the consciousness of object (idam) may have risen, yet it is not so pronounced as to result in the bifurcation between the "I" (aham) and the "this" (idam).

The next step to the manifestation of this universe is the madhyamā (middle) level of speech. In this level the form of the universe is not take place physically but it takes place mentally. The position of this stage is in between the parā and madhyamā on the one hand, and the vaikharī (visionary) on the other, this stage has, therefore been called as that of the madhyamā (middle). At this level of descent of the speech the creational process is more pronounced and direct. When this stage is seen from the perspective of powers of Śiva, it represents the power of knowledge (jñānaśakti). It means that the idea of the universe at this stage is in the process of being formed. Whatever creational activity at this stage may be taking shape; it is the shape of idea. The

actualization of this idea into a physical reality, called the world. Accordingly it is said that madhyamā (middle) stage in encapsulates the consciousness of 'this I am' (idam-aham) while the consciousness of difference has just begun at the paśyantī (visionary) stage, it takes much sharper turn at the level of madhyamā (middle). Finally we have the vaikharī (gross) stage, it is at this stage that the actualization of the world has an objective and material entity occurs. The vaikharī (gross) stage, thus, is seen as the grossest manifestation of the speech. When seen from the point of powers of Śiva, it represents the power of action (kriyāśakti). We can understand the process of these levels as under:

	Parā	
jñeya	paśyantī	icchā
jñetri	madhyamā	jñāna
jñāna	vaikharī	kriyā

The manifestation of the speech as the objective world, according to Kashmir Shaivism does not denote its materiality. Rather the manifestation of the speech as the world is seen as an appearance (ābhāsa). But it means within the Kashmir Shavism idealistc framework, that consciousness has externalized itself. Accordingly has physical stage been termed as the one which proclaim: "I am and this is" (aham idam ca) means difference between subject and object is totally taken place. This all process of manifestation take

place only by the power of Śiva, which is not separate than the Śiva. By seeing this process of manifestation which takes place by Śiva and Śakti, we can say that female energy and male energy are the two sides of the same coin. The one cannot take place without the other.

Mātṛkā worship in tantric tradition:

Mātṛkā worship was very common since the ancient time in tantric tradition. The activities of Śakti, the primordial female energy, underlie the diversified forms of appearance, colour, etc. and phenomena of the universe. The cosmos right from the Ultimate God down to the earth is pervaded by mātṛkā which is full of the luster of I consciousness (parāhantā) of supreme that is the creative power of Paramaśiva. Parāhantā is also known as Parāśakti or mahāmātṛkā. Mātṛkā is called mother. It produces the entire universe. It is the power of sound inherent in the alphabet that is the basis of the limited knowledge in the form of ānva (that which makes one consider oneself incomplete and imperfect), māyīa (that which brings a sense of difference in everything) and kārma (that which makes one perform good or bad deeds) mala. She is presiding power in the form of various deities (śaktiradhiṣṭhātṛ)[13], she is motivating power lying at the root of every effort in this world. When an aspirant with single minded devotion apprehends that reality which is beyond the range of utterance, he obtains absorption

in divine consciousness (samāveṣa) known as shākta. The will power of the yogi, who is in communion with Śiva is Umā (splendour of Śiva) who is kumarī.[14] Such a yogi who is united with icchāśakti can develop certain supernatural powers acquiring the power of creating any kind of body according to the desire.[15] These mātṛkās as also other such devīs are free and work according to their will.[16] Śiva's śakti-incarnate Umā has manifested herself in many forms in different ways. The life of the yogi who has received full enlightment about mātṛkācakra is changed. His whole life becomes yoga; his formal rituals are changed into spiritual practices.

The mātṛkā ritual thus occupied an important place in tantric rituals and for a very long times it seems to have been practiced both by gentry and plebeian. The genesis of the mātṛkā worship and the concept of Śiva-śakti may be traced back to the matrilineal traditions of Kashmiri society. Matrilineal is the custom of reckoning kinship, descent, succession and inheritance in the female line. The worship of the mothers that plays a great role in the tantric ritual seems to have flourished from very ancient times and the ritual of human sacrifice to them (devīcakra) was quite prevalent.[17] The circle of the mothers,[18] indicate that the Śakti-worship claimed a large number of followers. Usually, along with the shrine of Śiva-Ugreṣa (a temple of Śiva) was laid out a "circle of mothers". The mystical diagrams were

carved in stone like the śricakrās and rāñicakrās which are prepared and worshiped in private houses, and temples even today in Kashmiri culture. The Śiva-śakti concept evolved to a degree that it gave a new dimension to the śākta cult. The drawing of mystical diagrams on rocks and the worship of Bhairava, in due course, led to the composition Śivasūtras which betray a pronounced śākta influence.

According to philosophical system the process of creation is the same at the universal and individual level, the female and male energies combine to operate at both levels. Śiva is Himself the cause of manifestation. He is Himself semen (vīrya) and yonī. He is complete prakāśa. He goes in vimarśamaya yonī, which is understood in the sense of a female's yoni. Prakāśamaya vīrya entring into vimarśamaya yonī is well nourished and manifests itself in the external creation. This process is explained as follow: prakāśa, when stir, becomes vimarśa or śakti and when that stir comes to rest, it is Śiva. So the whole concept of Lord Śiva is looked upon as full prakāśa or mahāvīrya.[19] If Śiva is considered in the context of the interaction of the positive and negative forces, of the combination of the male and female principle, this would suggest that female energy is the nucleus of the entire manifestation and in a sense, the motive force behind the entire cosmos. It reflects the matriarchal bias of the śaivas to whom female was the mainstay of the sentiment animate world of living organism and not just a mere

possession of a male dominant society. The worship of mātṛkā assumed much importance when agriculture considerably advanced and most of the mother goddesses had assumed tantric traits and were invoked and worshiped according to tantric rites.[20] Women's role in the āgamas as maṭhikāgurus[21] and yoganīs[22] were indicates how even the most difficult yogic practices and siddhis were attained with their association. The earlier yoginīs , so often referred in the āgamas, were women of flesh and blood and later they were raised to the status of divinity.

Yoganīs occupy an important place in the tantric cults and mode of production in which they seem to have played a key role, as goddesses of fertility and magic. The tantric cult of śrīcakra represent the sex-ritual, which believed to ensure the material prosperity of the tantric. The mātṛkā's worship suggests that from the very beginning the śaivas were worshippers of Śakti as an integral part of Bhairava, the mystical formulas and rites about whom were supposed to lead to the fulfillment of all desires.[23] The worship of mātṛkā indicates that fecundity rite played the key role in an economy where mātṛkā Bhairava and the simply Bhairva was worshipped. These people must have very early understood the importance of worshipping female energy in conjunction with the male energy. This, of course, forms the basic conceptual foundation of tantrism, which conceives the power of the Supreme Being as a female (Śakti) principle through which the manifestation of the universe is affected.

Human beings absorbed in their worldly activities and delighted in their outward appearance of subjects (pramātā) and objects (prameya) fulfill all their desires well. Therefore, men and women expand themselves in the process of creation and dissolution and on a higher plane; Bhairava and Bhairavi are established in the process of expansion and contraction. The creative energy of germinating or sprouting is described as Rudra-śakti samāveṣa and drawing in the universe as Śiva samāveṣa. Śakti is the intrinsic power externally inherent in Śiva that gives the impulse to his manifestation. Thus in Kashmir-Shaivism, the universe, in all its various forms of the animate and inanimate is regarded as different real forms of Śiva.

This would explain by couple-figures were depicted on religious structures and by mithuna 'pairs' were regarded as auspicious symbols. Accordingly it may be suggested that sex was not tabooed. It appears that related to sex were discussed openly, sexual life and its experiences were considered as an integral part of life. Śakti as female principle is neither absolute nor an independent entity. She is an imminent principle of Śiva Without Śakti Śiva is inactive.[24] Śakti is known as Devī and Mahāmāyā. Where Śakti does not get the scope of expression due to the density of consciousness, it remains merged in Śiva. According to the Kashmir-Shaivism Śakti exists at all levels of manifestation and unmanifestation. Śiva-tattva and Śakti-tattva are

inseparable (samavāyini).[25] There is no dichotomy between the two. Māyā being the mother of all beings and existence, has been addressed as jananī, mātṛ and ambā. She is vidyā-śakti when she reveals herself in the paśu state of ātmā whose true nature is Lordship but when she veils, she is called māyā. The male and female principle is highlighted in the tantras. Each principle form earth up to matter is susceptible of being viewed from different stand-points owing to the seven perceivers regarded as Śakti or as Śaktimān.[26] The Śakti of Śiva possesses infinite forms but she is chiefly known through her three aspects of aparā, parāparā and parā. Aparā attaches the jīvas to sense objects, parāparā to the mixed fruit of pain and pleasure and parā conducts the creatures to the highest end of life, the attainment of Śiva stage.[27] Far from viewing the female as a sense object, the tantras regarded her as the inseparable Śakti of the Lord.[28] She is his desire (Icchā).[29] This would suggest that she occupies an important place, both in the cosmic and material places. Śiva is described as bīja mantra and Śakti as yonī.[30] Just as Śiva-śakti union leads to the manifestation of the world, similarly the procreation or human fertility proceeds from the union of the male and female. The whole tāntric culture encompasses rituals in which both men and women participate. In tāntric practices the key to success lies through the worship of Śakti. The mystical diagrams are symbols of creations, production and completeness. Even in Vedic

scarifies we notice that the sacrificer (yajamāna) had to set up various pairs and make them symbolically unite so that their union might produce off-spring, good luck, victory etc. in fact everything a man asks for the tantras are thus a continuations of that tradition and practice. For the fulfillment of all desires, both bhukti and mukti Śakti was essential. The Malinivijaya-tantra gives a long list of attainments which a sādhaka achieves through Śakti.[31] A study of the āgamas reveals that a woman is one half of man's self. She occupies an equal if not a higher place along with man. In the Śatapatha-brāhmaṇa the mind is described as a male and speech as a female. In the tantras she is parāvak. The all transcending word (parāvak) generally contains all the āgamas. Śakti is thus conceived as the very essential feature of jīva's life. No human activity is complete without the association of a woman. This also reflected in the social attitude of the Śaivas who accord an equal position to woman. If the jīva is mini-Śiva, his wife is Śakti. She is not in any way inferior to her husband. Even now among the pandits of Kashmir, a marriage ceremony ends with the worship of the couple as Śiva and Pārvati and the participants offer their bouquet to them and seek their blessing.

Deptt. of Sanskrit, University of Kashmir,
Hazratbal Srinagar-190006 M. 09906108451
E male:kartarsharma@gmail.com

References

1. Nīlamatapurāṇa, 12
2. Ibid, 30
3. Ibid, 35
4. Ibid, 39
5. Ibid, 40
6. Ibid, 41
7. Ibid, 45-46
8. Spandakārikā, 3, 13 commentary
9. Malinivijayottara tantra; 3, 9; Spandakārikā, 3, 13 commentary
10. Iśvarapratyabhijñā vimarśini, 1, 5, 13
11. Pratyabhijñāhṛdyam, 11
12. Śivadṛṣti, 1, 16
13. Śivasūtra, 1, 4
14. Ibid, 1, 13
15. Ibid, 1, 19
16. Netratantra, 19, 56-60
17. Rajatraḷṅgini, 1, 332-333
18. Ibid, 1, 335
19. Tantrāloka, III, 230-231
20. Mālinivijayottara tantra, 3,9
21. Śivadṛṣti, 7 , 121-122
22. Mālinivijayottra tantra, 19,21

23. Svacchanda tantra, 1, 33-37
24. Tantrāloka, I,69
25. Malinivijayottara tantra, 3.5
26. Mālinivijayottra tantra, 1, 33-36; Tantrāloka IX, 167-68
27. Tantrāloka, III, 4-6
28. Ibid
29. Tantrāloka, IX, 34-39,
30. Mālinivijayottra tantra, 3. 12
31. Tantrāloka, XVIII, 28

●

MARX'S CONCEPT OF EXPLOITATION

PRAMOD KUMAR BAGDE

The emergence of Analytical Marxism in the seventh decade of preceding century, marked a new beginning in the philosophical life of Karl Marx. The "Official Marxism"[1] had arrogated to itself the right to interpret Marx's philosophy and had degenerated Marx's thought into vulgar materialism. Analytic Marxism, inaugurated with the publication of G.A. Cohen's magnum-opus "Marx's Theory of History: A Defence", had sought to bring to bear the rigour and clarity of analytic method upon Marx's social theory. Marx's thought had been marred by obscurity and vagueness, the legacy traceable to Hegel. The arrival of analytical Marxism accomplished the two tasks: First it brought a lucidity to Marx's ideas, which they lacked earlier; second, it heralded the bold and daring interpretations of Marx's social theory.

In the recent past, many of the philosophers have endeavoured to expound Marx's concept of exploitation, Nancy Holmstrom[2] and Will Kymilika[3] being the two instances.

These thinkers, however, have confined the analyses of

the concept of exploitation to labour-process. Thus, they seem to have reinforced the kind of economism, which I wish to combat in my interpretation of Marx's conception of capitalism. In the present paper, I wish to offer a comprehensive account of Marx's concept of exploitation which transcends the economism of the mature Marx of "Capital". An exploration of Marx's oeuvre, would furnish us with the three distinct conceptions of exploitation: (a) a conception of exploitation in the labour process in capitalism; (b) a trans-historical conception of exploitation that applies not only to labour process in capitalism but to the labour processes of all class-divided societies and (c) a general conception of exploitation that is not limited to phenomena within labour process itself. We will commence our discussion of Marx's three conceptions of exploitation with the discussion of Marx's conception of exploitation in labour process of capitalism.

The labour process that defines capitalism as distinctive mode of production is the wage labour process of commodity production.[4] Capitalism is a system of commodity production, where things are bought and sold on a market in which labour-power is a commodity. Attainment of profit is the purpose of production for the capitalist. The key to this special conception of exploitation is the distinction between *necessary and surplus wage labour*. According to Marx, the wage labourer's work can be divided into two parts: the work by which she produces

commodities whose value is equivalent to the value of those goods required for her own subsistence, and the work by which she produces commodities whose value exceeds the value of these subsistence goods. The former Marx calls "*necessary wage labour*", the latter "*surplus wage labour*".[5] Marx invites us to conceive of wage-labourer's working day as divided in to two parts. During the first part, the worker works for herself in the sense that she produces commodities whose value is equivalent to wages she receives. During the remainder of the working day, the wage labourer works for the capitalist in the sense that what she produces is appropriated by the capitalist and not returned to the worker in the form of wages. Since the product of *surplus wage labour* is not returned to the worker, Marx calls surplus labour "*unpaid labour*". Marx is of the opinion that wage labour is *forced labour*. Because the capitalist controls the means of production, the wage labourer is compelled by the threat of un-employment and, ultimately, starvation, to enter the wage contract. Finally, though the worker receives wages in return for a portion of the commodities she produces, all the commodities she produces are controlled by the capitalist. Granted this skeletal analysis of wage labour, it is not difficult to see why Marx would brand it as exploitation. As Nancy Holmstrom succinctly puts it –

"It is the fact that (capitalist's) income is derived through *forced, unpaid, surplus (wage) labour, the product of which*

the workers do not control, which makes it exploitative."[6] Exactly why the term "exploitation" is to appropriate here will become clearer once we see how Marx's conception of exploitation in the labour process in capitalism is related to the second and third conceptions of exploitation. According to Marx, each of the class-divided societies preceding capitalism had its distinctive labour process and each of these distinctive labour processes constituted a distinct form of exploitation. In *Grundrisse*, he distinguishes three social formations, prior to capitalism: oriental despotism, ancient slave holding society, and feudalism. The method by which a surplus is extracted from the workers differs in each case, as does the form which the worker's product takes. For example, in the feudal labour process, the worker is not a wage-labourer who produces goods in the form of commodities upon the pain of unemployment. She is a serf who receives the use of small plot of land instead of wages and who produces goods for the personal consumption of the lord upon the pain of physical coercion. Yet in each case, four elements are present (1) the labour is *forced*; (2) a portion of it is *uncompensated labour*; (3) the worker *produces a surplus*; and (4) the workers do not themselves do not control their product.

The conception of exploitation in the capitalist labour process simply specifies each of these four elements which constitute the trans-historical conception of exploitation in the labour processes of all class-divided societies.

To grasp Marx's most general conception of exploitation, we must approach the works of young Marx. His most general conception of exploitation is to be found in one of the earliest work, "*The German Ideology*", written in 1846. In the following passage from this work, Marx first introduces the term "exploitation", explicates its meaning, and notes the French phrase from which he borrowed the term – all in the course of a discussion of the bourgeois view of interpersonal relations as relation of utilization:

"In Hollbach, all..... activity of individuals in their mutual intercourse e.g. speech, love etc., is depicted as a relation of utility and utilisation.... In this case the utility relation has a quite different meaning, namely that I derive benefit for myself by doing harm to someone else (exploitation de I'homme par I' homme)..... All this actually is the case with the bourgeois. For him only one relation is valid on its own account – the relation of exploition; all other relations have validity for him only in so far as he can include them under this one relation and even where he encounters relations which cannot be directly subordinated to the relation of exploitation, he does at least subordinate them to it in his imagination. The material expression of this use is money, the representation of the value of all things, people and social relations."[7]

The ethical dimension of the above passage is quite unmistakable. While pondering over the content of morals, G.J.

Wornock affirms that the essence of morality lies in the concern for the well-being of human beings and the moral wrong consists in inflicting a harm or damage to our fellow humans.[8] Contemporary moral philosopher W.D. Ross echos the similar view when he propounds the duty of non-maleficence as the most basic prima-facie duty.[9] In view of the views held by these two philosopher just cited, it can be asserted that Marx's general conception of exploitation embraces the ethical dimension of human relations and is not confined to labour process of the society. This general conception includes three elements: First, to exploit someone is to *utilise* him/her as one would a tool or natural resource; second, this utilisation is *harmful* to the person so utilised; and third, the *end of such utilisation is one's own benefit*.

What is most striking is the extreme generality of this characterisation: exploitation is not confined to the labour process itself. It is not simply that the bourgeois exploits the worker in the *wage-labour relationship*. Nor is it simply matter of the bourgeois exploiting the worker. The point, rather, is that, for the bourgeois, human relations *in general* are exploitative, this includes not only his relations with the worker, but with his fellow bourgeois as well.

In the "*Economic and Philosophical Manuscript of 1844*", Marx describes mutually exploitative exchange-relations among individuals in the mythical simple commodity-exchange

society portrayed by John Locke and other bourgeois theorist. These Lockean individuals produce and exchange their own surplus products with other individuals of the same description. Since they only exchange goods, no wage relation exists. Hence the special conception of exploitation in the capitalist labour process – the wage labour process – does not apply. Further, since neither party has a monopoly on the means of production that forces the other to perform uncompensated labour for him, the more general trans-historical conception of exploitation in the labour process is inapplicable well. Yet Marx condemned these exchanges as mutually exploitative – as relationships in which one individual utilises another as mere means to his or her own benefit to the disadvantage of the other and vice-versa.[10] The fact that Marx regards relations between Lockean producer – exchangers as mutually exploitative according to the general conception of exploitation is extremely important. Like the passage in '*German Ideology*' in which Marx describes all bourgeois relations as harmful utilisation for gain, it shows that Marx did not restrict the term "exploitation" to relationships between classes, much less to the wage-relationship between capitalist and worker.

More importantly, Marx's general conception of exploitation is capacious enough to apply to relationships between persons who are not producers. For it applies with equal force to more sophistifacted exchange- relationships

between the members of the bourgeoisie in the fully developed capitalist society. Even though two merchants or two bankers, for example, are members of the same class, even though both have property in the means of production and stand in no wage-relation to one another, they nevertheless exploit one-another in their transactions. Each harmfully utilises the other as a mere means to his own advantage. Each views the *needs* and *desires* of the other not as needs and desires, but rather as leavers to be manipulated, as weaknesses to be preyed upon. In "*On the Jewish Question*" and the "*Economic and Philosophical Manuscripts of 1844*", Marx gives a detailed account of the ways in which money serves as the medium of exploitation in the wage-relation between workers and capitalist and in relations among members of the bourgeoisie. And this, of course, is just what we should expect, granted the general conception of exploitation Marx introduced in '*the German Ideology*'.

Money facilitates the exploitation of every human capacity because it enables us to attach a price to every human capacity and to purchase control over its exercise. As Marx puts it in "*The German Ideology*", money is the "material expression" of our purely instrumental relations with human beings because money is "the representative of the value of all things, people, and social relations."[11] Marx's comment on proletariat prostitution provide further evidence for the claim that his general conception of exploitation extends beyond the

labour process itself and applies to intra-class as well as inter-class relations. In "The Economic & Philosophical Manuscripts of 1844", Marx notes that workers regularly prostitute their wives and daughters to supplement their wages.

"You must make everything that is yours saleable, i.e., useful. If I ask the political economist: Do I obey economic laws If I extract money by offering my body for sale, by surrendering it to another's lust? (The factory workers in France call the prostitution of their wives and daughters the X^{th} working hour, which is literally correct): .....Then the political economist replies to me: you do not transgress my laws...."[12]

Marx's point here is that exploitation of the worker by the capitalist in the labour process encourages exploitative relations among the workers, even within the worker's family itself. In the labour process, the worker sells the use of his capacities, the control over his body and mind to the capitalist. Thus, the labour process accustoms the worker to think of human capacities as saleable. Further, the use of money makes is possible to price and purchase all human capacities – sexual capacities as well as capacities for industrial operation in the labour process. Finally both the meagerness of his wage and the bourgeois ethic of "self-improvement" encourage the worker to exploit his wife and children in the way in which the capitalist exploits him.[13]

Marx's recurrent remarks on the exploitative character

of the modern state furnish still more evidence that his analysis of exploitation in capitalism is not confined to exploitation in the labour process. It has often been noted that Marx has to distinct views of the state.[14] The first is that the coercive apparatus of the state is a weapon wielded by the bourgeois to enforce the conditions of its exploitation of the proletariat. This first view of the state is most clearly expressed in the Communist Manifesto:

"The executive of the modern representative state is but a committee for managing the common affairs of the bourgeoisie."[15]

Marx's other view of the state is more complex. On this second view, the state achieves a degree of autonomy from the interests of the bourgeoisie as class. The state bureaucracy approaches the status of a distinct class, pursuing its own interest, above the class-division between bourgeoisie and proletariat. Marx's most penetrating criticisms of the semiautonomous exploitative state bureaucracy are found in his early works such as 'Critique of Hegel's Philosophy of Right', but his second view of the state is also found in middle and late works. In the '*Eighteen Brumaire*' (1852), Marx describes the state bureaucracy as "an appalling parasitic body, which enmeshes French society like a net and chokes all its pore....[16] He goes on to describe the process by which the parasite grew by increasing its control over the wealth produced by the citizens

and by using this control to extract even more wealth and control.

The simpler conception of the state as the instrument of the bourgeoisie and the more complex conception of the semiautonomous bureaucratic state are mutually consistent. In fact, it would be more accurate to say that the more complex conception assimilates the simpler. The richness and originality of the complex view is that enables us to understand how the state can be most effective as an instrument for the bourgeoisie's exploitation of the proletariat when it attains a degree of autonomy from the bourgeoisie. Because effective control over the proletariat includes political as well as economic domination, the bourgeoisie finds it necessary to delegate power to the leadership of the state bureaucracy; yet this power endows the state with a dangerous degree of independence, a life which is partly it own. In the '*Civil War in France*', Marx reiterated this conception of the state bureaucracy as a semiautonomous power standing partly above class-divided society and exploiting all its members, proletariat and bourgeois alike. The glory of the Paris Commune uprising was that it was the first attempt to smash the exploitative state, to restore "to the social body all the forces hitherto absorbed by the state parasite feeding upon them and clogging the free movement of society."[17]

The parasite simile, which vividly captures the exploitative

character of the state bureaucracy, is also Marx's favourite analogy for the exploitation of the worker by the capitalist. In 'Capilat', Marx frequently describes the capitalist as a vampire feeding on the life blood of the worker.[18]

Since, on this second view, the victims of state exploitation are capitalist as well as worker, no conception of exploitation in the labour process is broad enough to cover the relation between the state and citizenry in capitalism.

In conclusion, it may be urged that Marx's conception of exploitation is broader and more complex than the previous accounts of Nancy Holmstrom et al. have assumed. Exploitation, for Marx, is not confined to relations within labour process, nor even to relations between classes. Marx's conception of exploitation comprises of economic, moral and political dimensions. Accounts that overlook these points impoverish Marx's condemnation of capitalism as an exploitative social formation. Marx's criticism is not just that the capitalist labour process is exploitative – his criticism is that capitalist society is exploitative through and through. The exploitation of the worker by the capitalist is the foundation of the exploitative society, but it is not the whole edifice. Any account which restricts Marx's conception of exploitation to the labour process ignores Marx's fundamental thesis that labour process of a society exerts a pervasive influence on all human relations within that society.

Deptt. of Philosophy & Religion
Banaras Hindu University, Varanasi

References

1. Official Marxism is an interpretation of Marx's ideas, evolved by Joseph Stalin, which claimed to represent an authoritative and infallible account of Marx's thought and repressed any alternative interpretations that challenged the prevalent orthodoxies.
2. Holmstrom, Nancy; Exploitation "The Canadian Journal of Philosophy" Vol. VII, No. 2, June 1977, pp. 353-359.
3. Kymlicka, Will; Contemporary Political Philosophy, Oxford University Press, 2002.
4. Marx uses the term "commodity" as a technical term to signify that the item in question is produced for exchange rather than for immediate consumption.
5. Marx, Karl; Capital (New York, 1967), pp. 207-9.
6. Holmstrom, Nancy; Exploitation, "The Canadian Journal of Philosophy", Vol. VII, No. 2, June 1977, p. 559.
7. Marx, Karl; The German Ideology in David McLellan, Karl Marx: Selected Writings, Oxford, 1977, pp. 185-86.
8. Wornock, G.J.; Contemporary Moral Philosophy, Macmillan, New York, 1967, p. 57.
9. Ross, W.D.; The Right and the Good, p. 17.
10. Marx, Karl; Economic and Philosophical Manuscripts of 1844, ed. by Easton and Guddhat, pp. 278-79.
11. The German Ideology, p. 110.
12. Marx, Karl; The Economic & Philosophical Manuscripts of 1844, ed. D. Struik, New York, 1973, pp. 159-51.

13. It is interesting to note that Marx contends that the bourgeois utilises his wife by treating her as a mere instrument of production. (The Communist Manifesto, Marx and Engles: Basic Writing on Politics and Philosophy) ed. Feuer, New York, 1959, p. 25.
14. See, for example, R. Miliband, Marxism and Politics, Oxford, 1977, pp. 74-90.
15. The Communist Manifesto, in Feuer, p. 9.
16. Selected Works of Marx and Engles, New York, 1972, pp. 170-71.
17. Ibid., p. 475.
18. Ibid., pp. 812-13.

●

THE NOTION OF INTER-SUBJECTIVITY IN MARCEL'S THOUGHT

ROSHAN ARA

In Existentialism, one of whose roots is the "philosophy of life"; death has been given central philosophic significance in the interpretation of life.

Tracing the concept of death to Antiquity we find that among the Greeks there was a fundamental pessimism in their outlook on life. Edith Hamilton, on the one hand emphasized the joy of life as a special mark of the Greek spirit and on the other admits that "The Greeks were keenly aware, terribly aware of life's uncertainty and the imminence of death".

Death was pictured as a youth holding a torch downward and it is this image that gave him the idea of reconciliation with the fact of death in Greece.

If we talk about the answer to death in modern philosophy we find Descartes stating in "On the passions of the Soul" that "instead of finding means to conserve life I have found another, an easier and a surer one, which is not to fear death."

Spinoza's concern with death is evident from the attention he gives to the ability of overcoming the fear of it. What is

supposed to be his doctrine of immortality is a compromise between the desire to find consolation as regards death and avoiding a position involving a break in the unity of Nature.

Kant meets death on the basis of his conviction of after life. Kant however acknowledges that his conviction is not logical but moral certainty. Kant was deeply convinced that in this world there are signs of an order carried out with great wisdom which includes the happiness of mankind that serves as a criterion of his belief in the existence of a better world and justifies man's hope of a future life.

According to Schopenhauer, the fear of death is on account of the mistaken view of the will. The will mirrors itself in the world of phenomena and comes to know itself through it. But just as the person seeing himself in the mirror does not perish when the mirror is broken so the will is not affected when the individual perishes. It is this indestructibility of will on which Schopenhauer's answer to death rests.

As the water drops of a waterfall change, appear and disappear, though the rainbow they support remains standing in majestic repose, so each idea, that is each species remains unaffected by the change of its individual members. The lions that are born and die are like the drops of water, but the 'leonitas' the idea of the lion is like the rainbow.

To quote, "Whether the fly which now buzzes around me goes to sleep in the evening, and buzzes again tomorrow, or dies in the evening, and in the spring another fly buzzes which has sprung from an egg: that is in itself the same thing ……..".Choron J: Page 175.

The crux of his argument is that there is no creation out of nothing and that if we affirm it, one must also agree that death is the absolute end.

In contemporary Existentialism, authenticity is an important ethical concept and the relation of the individual to death is an essential aspect of it.

Heidegger says that it is man's death which is not exchanged with the experience of others, and it is only in 'Being-to-death' that he escapes the demands of the public and rotten 'they' and becomes truly himself. It is by one's resolve to death that authenticity is achieved, and authenticity is a kind of honesty or a kind of courage.

Sartre has given a brilliant account of death in his tribute to the Resistance, the Republic of Silence. To quote "thus the basic question of liberty was posed and we are brought to the verge of the deepest knowledge that man can have of himself. For the secret of man is not his Oedipus complex or his inferiority complex it is the limit of his own liberty, his capacity for resisting torture and death."

Jaspers holds that the impassable limitations –death, suffering, conflict and guilt are rooted in the concrete situation. Human life is wrecked with frightful insecurity of these universal limits. If one encounters them as mere objective facts that are to be ignored or overlooked one remains sunk in the world. To take up one's stand in the human situation and wills one's death as the natural consummation without any hope of survival. In such a way death is not a mere limit but a clue and a proof.

If in the face of death, men stands irrevocably alone, it is in communication that saps life giving it strength and vigour.

According to Marcel, the self's certitude of its existence is made possible by entering the various headings. The self cannot be separated from an apprehension of the self in its subjectivity. It is in relation to oneself as subject that these characteristics of one's individuality are felt to be. Though these enteries are strictly true, yet they give a feeling of intimate disgust.

Marcel further affirms that one treats oneself as somebody with whom one is intimate and thus one is in touch with oneself as subject. Furthermore, if one is a definite somebody, it is in opposition to a number of other some bodies. This solves the age-old problem of how one can be certain that anybody, other than oneself exists.

The bond between oneself and one's body is fragile for one's body has the same properties as any other body; it is liable to suffer the same disorders fated to undergo the same destruction.

There are two notions as regards the body: (a) body as an instrument (b) as a possession. Body is an object in so far as it can be scientifically known from hygiene to surgery.

Marcel asserts that one is one's body. This erases the gap by virtue of which one's body was merely an instrument. It further implies that one's body was not an object but a subject. One's body is one's own so far as one's feelings are concerned. One can yield to its whims or master it and make it one's slave.

It is to be noted that one's possessions are felt as additions to, or completion of one's body. The object that one possesses can be stolen lost or damaged, while one the dispossessed possessor remains.

It is important to mention Merleau Ponty's view in this regard. Merleau Ponty rejects Sartre's view that anonymous coexistence pre-supposes a prior experience of the other's subjectivity. Merleau Ponty insists on the subsidiary status of analogical inferences about the other's subjectivity or consciousness.

Merleau Ponty further elaborates his point by saying that between one's consciousness and one's body as one experiences it, between the body of mine and that of another, as one sees it from outside there exists an internal relation. Thus one's body and the other person's are one whole, two sides of one and the same phenomenon.

It may be added that human co-existence does not imply mutual objectification. To quote, "If another's body is not an object for me nor mine an object for him ,but if both are manifestations of behaviour, the emergence of the other does not reduce me to the status of an object in his field, nor does my perception of the other reduce him to the status of an object in mine."

In the Mystery of Being Vol I Marcel coined the term 'ingatheredness'. Ingatherdness is a state in which one is drawn towards oneself. One must avoid setting apart one level of the self from the other. For example the self of reflection and

ingatheredness is not the same as that of lust and vengeance. These are not however true selves, but different moduations of existence or tonalities of existence. These two modes are definitely different from each other which can be predicated at different times or in different circumstances.

It is within one's ingatheredness that one takes one's stand towards one's life. It is at this point that one becomes aware of a gap between one's being and one's life. I am not my life and if one is in a position to judge one's life on the condition of being able to make contact with one's being through an ingatheredness that is beyond any judgment on one's life and every representation of it.

The apparent contradiction between the two statements: I am my life, I am not my life vanishes if one understands that one is weighing the actual life one is leading in the balance of the potential life one carries within oneself.

It is from a similar point of view that one must treat the notion of an encounter. Every day in the street or tube one elbows one's way through hundreds of people, but this elbowing is not experienced as an encounter. All these unknown people are mere bodies, occupying a certain share of space in which one has to maintain one's own share of space.

If one happens to meet some one at the house of some third person, some one who has greeted one with a smile, but some one says contemptuously that is mere coincidence. The fact of the matter is that one has not reached the level where such a meeting is more than mere coincidence.

Marcel in the Gifford Lectures takes into account a central idea-the act of reconnoitring of getting to recognize one's surroundings in the widest sense.

There are a number of places that interest one, for one reason or another; the post office, the town-hall, the cathedral, the theatre and so on. It is between these points that one must create precise relations all referred to one's body which has at its disposal –buses, trams, tubes and so on- for transporting itself from one place to another.

It is interesting to note that there is a place where one is living from where these connective lines radiate. One must create a net-work of connivances between one's body and these centres of interest each of which is itself linked with some precise kind of activity: buying stamps, getting hold of an identity card or a ration book, attending a religious ceremony and so on. Such an example converge towards the idea of reconnoitring. This seems to be the case with animals also who are capable of reconnoitring, of finding their way about.

Merleau Ponty shares the same views with Marcel. He treats the theme of inter-subjectivity on pre-reflective level in the sense that other people are encountered through cultural sedimentations. One happens to live in a universe where there is earth, air and water and one is surrounded by roads, plantations, villages, streets, churches, implements – a bell, a spoon, a pipe. These cultural sediments are perceived not mearly as mute objects, one feels the close presence of others beneath the veil of anonymity some one uses the pipe for smoking, the spoon for eating, the bell for summoning.

Marcel in his book "The Mystery of Being" Vol I on page 162 remarks that one's sense of life or the vivid awareness of being alive happens when one aims at some purpose or one has some objective in view. However one sinks in to a lapsed state when one's propensities and capabilities are exhausted and one becomes weary of life. The word tediousness conveys this feeling perfectly well. It may as well be called despair. It may be added that the more a person is burdened with his own concerns the less intensely he lives, and the more impoverished his life is.

It is to be noted that giving one's life through self-sacrifice one gains self-fulfilment. Marcel gives the example of a French soldier who sacrifices his life in the dark days of May and June 1940, without any hope that his justice will make a difference to the outcome of the Battle of France. However his death, and the death of many other soldiers, might be the summit, the culminating peak, of what we call their lives. It is as if death has transcended the categories of biology.

Before embarking on the theme of inter-subjectivity, one may conceive an opposite kind of case in which one does not open oneself before the other. This is indisposability as Marcel terms it. The self-centered person as he may be called is indifferent to the appeals for help made to him and responding them. He is stiff to other people or even of imagining their situation. He remains shut-up in the petty circle of his personal experience which forms a kind of hard-shell round him which he refuses to break. It is essential to human life to orientate

itself towards something but also to be conjoined and adapted as the joints of a skeleton are conjoined and adapted to the other bones – to that reality transcending the individual life which gives the individual life its point and in a certain sense its justification.

In disposability or availability one adopts a magnanimous attitude seeking an assessment of oneself. This comes from one's nearest friend and trust worthy associate. But it is just possible that instead of enlightening one about oneself, one may torment and hurt one by one's merciless estimate. The fact however remains that it is he himself who has given him authority to give verdict in one's case and be humiliated by him.

Taking in to account an interaction of selves, let us see how the self affirms oneself and asserts the ego's rights. The ego expresses itself in a very glaring and aggressive way in the mental world of the child. The child runs up to his mother and offers her a flower. He is insistent that it was he who has picked it up from the garden. His tone and gestures are very significant. He expects the admiration and gratitude of the elders.

A similar example is that of a young man who is asserting the ego's rights. He sings a song for which he has composed a tune. He is trying to evoke the surprise of his listeners, winning their praise and admiration. Here we find the ego present in a physical form, making sure that no one should curtail his rights.

Another example is that of a coy young man who goes to fashionable dance or cocktail party. This Youngman is very much self-conscious. He suspects that people are making fun of his new dinner-suit which does not fit him very well and of his black bow tie which has become a little lopsided. His manners at the table are also noticed. He is on the one hand engaged with himself and mesmerized by the glance of others. It seems that he has been literally thrown (as Christians were thrown to the lions) to the merciless attention of others.

Supposing a gentleman comes to the party and says a few words to the young man to put him at ease. At first the young man refrains from entering into relationship with him. He looks upon him as one who is peeping into his self to fulfil some sinister motive. To be on safe side he treats him in a very formal manner. A true communication is thus inhibited. But a few warm words from this new guest like "I am glad to meet you" I once knew your parents" creates a bond between them and the atmosphere becomes congenial.

This stranger, whom he has just met, accompanies him on this sort of 'magic voyage'. They are linked to each other by a 'shared secret'. During conversation the stranger learns that the young man is very fond of coffee. As coffee is scarce in France at that time, he tells him the means through which he can procure it from black-market. What these two people share is taste.

In another example, Marcel says that when one stops someone on the street to inquire him the way, about a particular

square, one is no doubt treating him as a sign-post, to be made use of for one's convenience. One is afraid that one is supposed to grope one's way through some maze or even dangerous lanes of street. But one is enchanted by the tone of voice and glance of the stranger, and he is no longer looked upon as a guide book or map, but a brother who has helped him when he was alone and puzzled. It is here that a touch of genuine subjectivity is felt.

To quote "This is nothing more than a sort of spark of spirituality, out as soon as it is in the stranger and I part almost certainly never to see each other again, yet for a few minutes, as I trudge homewards, this man's unexpected cordiality make me feel as if I had stepped out of a wintry day in to a warm room". Marcel page: 179.

There may be yet other examples of inter-subjectivity. People traveling in a bus, or working together in a factory have a sense of common fate. This collective labour and effort is enough to emphasize that they may not be treated as units of force amalgamate to each other.

A true communication is established between prisoners of war and civilian deportees in refugee camps. The torment and agony borne by these people is what strengthen a bond between them. Such a kind of relationship exists between two people, and this makes a third person who has not entered into this relationship feel an intruder. Many women experience this situation when their husbands and sons meet old companions of the army in their presence. These people think that those who

did not share those moments personally, have no right to enter in to conversation.

Whereas for Marcel the meeting of different sections of people is all by mere chance, Jaspers envisages it from an altogether dimension. In 'communication' as Jaspers terms it, different kind of relationships are taken into account- like teacher and pupil master and servant, husband and wife, two brothers etc. According to Jaspers there is a quest for one's true self or Existenz so much so that it assumes the form of strive. In this strive one wishes one's point of view to prevail, be it for one's ideology, or support of a political party, or the joint endeavour in an enterprise.

In this loving combat, both partners triumph or lose together. Neither of them has an upper hand, and none is vanquished by the other. They are both stern in their own right, and there is no laxity on either side. They affirm a common objective and are honest in this joint venture. There is veracity, magnanimity and candidness on both sides. It may be regarded as a union of souls.

Merleau Ponty shares the same views with Jaspers. He writes, "There is constituted between the other and myself a common ground: my thought and his are inter-woven in to a single fabric, my words and those of my interlocutor are called forth by the state of discussion and are inserted into a share operation of which neither of us is the creator".

Marcel has yet another aspect to be taken into account- one's past, when one sees strange faces on the tube or in a bus,

one is conscious of the fact that each of them is carrying with him his own past. There is a whole range of headings that are relevant in this regard: illness, change of job, residence religious affiliations, party membership and so on. One's past is preserved as if it were last years black-berries or walnuts. At any moment in one's life, one may look into the past, as if by magic a shutter may be opened and one is a small boy of eight years.

Taking the example of a human being, whom one meets after a fairly long period. One sees a school boy say after forty years. One remembers him as a boy with red cheeks and bright eyes. Now he turns up to be an old gentleman, whose eyes are quite expressionless. There is nothing in these two appearances, nor in the feelings that would confirm that these were the two appearances of the same person. However this person had memories which corresponded with one's own memories of the period when the two attended the same school.

It is to be noted that whereas Jaspers enumerates a few relationships in which communication takes place, Marcel gives concrete examples in abundance.

Marcel gives instances of inter-subjectivity from artistic and religious experience. There is so to say different grades ranging from the mystical communion of souls in worship, to an association for some defined purpose at the bottom.

There may be a dearth of communication in married life when the wife is considered as a stupid fellow mending socks and clucking round old hens. But there may be mystical moments when the wife is accepted as a companion to be loved and cared with whom eternal bliss is promised.

The notion of inter-subjectivity has diverse ramifications. According to Carrington in telepathy the distinction between I and you ceases, they are no longer two nuclei but are united on a supra-physical plane.

There may be a hierarchy of choices ranging from the call to another like the ringing of bell for a servant to a very different kind of call which is like a kind of prayer. Thus Marcel's notion of inter-subjectivity culminates in to mysticism.

Deptt of Philosophy
Aligarh Muslim University
Aligarh.

Bibliography

1. Marcel: The mystery of Being vol I and II. Published by the Harvill Press 1950.
2. Blackham H.J. : Six Existentialist thinkers Routledge and Kegan Paul 1952.
3. Choron J: Death and Western thought. Collier Macmillan Publishers 1963.
4. Grene Marjorie: Philosophy In and out of Europe: University of California Press. 1976.

●

CONTRIBUTORS

Sachchidanand Mishra
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: sachchitmishra@gmai.com

Umesh Chandra Dubey
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: ucd_1@rediffmail.com

Ananda Mishra
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: anandaphil@gmail.com

D.B. Chaube
Professor,
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: deobratchaube@yahoo.com

N. C. Panda
Professor of Sanskrit,
Department of Sanskrit (VVBIS & IS),
Panjab University, Sadhu Ashram,
Hoshiarpur, Punjab-146021.
e-mail: ncpanda@gmail.com

Kartar Chand Sharma
Sr. Asstt. Professor,
Department of Sanskrit,
University of Kashmir,
Hazratbal Srinagar-190006
M. 09906108451
E male:kartarsharma@gmail.com

Pramod Kumar Bagde,
Assistant Professor, Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
Email: bagde_pramod@yahoo.co.in

Roshan Ara
Associate Professor
Department of Philosophy
Aligarh Muslim University, Aligarh

NOTE TO AUTHORS

The Editor and Editorial Board of *Ânvîkṣikî* welcome specialized papers/articles in Indian philosophy and articles that exhibit the relevance and importance of philosophy in general and Indian Philosophy in particular in the present scientific era and global world. The article may exhibit the distinctive characteristics of the various Indian philosophical traditions. They especially welcome those original contributions that expose the puzzling issues of the classical and contemporary Indian philosophy. They welcome also those articles which illuminate in a comparative manner the importance of Indian Philosophical concepts, epistemological issues, roots of religious ideas and as well as socio-economic philosophical problems.

The papers/articles submitted will be sent/mailed to the referees for their comment and the author will be communicated the decision only after the referees' report.

The journal is a bi-lingual one. All articles and papers either in English or in Hindi are printed. The authors are requested to use diacritical marks in a consistent way wherever they find a necessity. The system of transliteration of Sanskrit/Pali/Prakrit terms and names should be consistent within each article and should conform

to generally accepted practice. Manuscripts should be prepared for electronic copyediting and typesetting. Authors are responsible for the accuracy of all quotations and for supplying complete references, including block quotations, endnotes, and reference lists.

Authors are requested to use the following formatting techniques: the title using 14 pt type;

double-space using 12 pt type;

use double quotes to mark concepts, terms, titles of articles, and direct quotations;

use single quotes to mark quotations within quotations and scare quotes; direct quotation of more than 40 words should be set off in separate, indented paragraphs;

italicize book and journal titles and foreign words;

align left: avoid the use of justification commands. Prepare the article in

Unicode font while submitting an article in Hindi.

Two non-returnable copies of all contributions should be sent to the Editor, *Ânvîkṣikî*, Department of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, Varanasi-221005, UP, INDIA.

Book reviews and books for review should also be sent to the Editor, Ânvîkṣikî, Department of Philosophy and Religion, Banaras Hindu University, Varanasi-221005, UP, INDIA

Alternatively, the articles/book reviews should be mailed to *aanveekshikee@ gmail.com* as an email attachment in PDF format as well as in the Microsoft Document format. While sending an article as an email attachment the author is required to attach the fonts too.

The authors are requested to submit a declaration in this format while submitting an article.

The Declaration of the author for publication of articles in the Ânvîkṣikî journal—

1. I, the author of the research paper entitled " …" declare that it:

   a) does not contain any libelous or unlawful statements;

   b) does not infringe on any copyright, privacy rights or any other proprietary rights;

   c) has not been previously published elsewhere in its entirety. In the event, the Work contains material that has been previously published, such excerpted material has been attributed to the proper author(s) and identifies where it has been previously published; and

   d) is my sole, original work, or in the case the Work is prepared jointly by more than one author, I warrant that I have been authorized by all co-authors to submit the work on their behalf.

2. I agree to hold harmless, indemnify and defend the journal publishers, its employees, contractors and agents

from any and all losses, damages, expenses, claims, suits and demands of whatever nature (including legal fees and expenses on a solicitor client basis) resulting from any breach of the above warranties.

3. I authorize the Editors of the journals to edit and modify the manuscript. I also give my consent to the Editor of "Ânvîkṣikî" to own the copyright of my research paper.

Author's Name and signature—

Date and Place—